महावीर भगवान

और

महात्मा बुद्ध।



"पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कापिलादिषु।
युक्तिमद्वचनम् यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥"



कामताप्रसाद जैन।

श्रीवीतरागाय नमः ।

भगवान महावीर

और

महात्मा बुद्ध ।

लेखकः—

बाबू कामताप्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस. (लन्दन),
ऑन० संपादक "वीर" और भगवान महावीर, सत्यमार्ग,
महाराणी चेलनी, संक्षिप्त जैन इतिहास, प्राचीन जैन
लेखसंग्रह आदि आदि ग्रन्थोंके रचयिता ।



मुद्रक व प्रकाशकः—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस, खपाटिया चकला—सूरत ।

"दिगंबरजैन" के २०वें वर्षका उपहारग्रन्थ ।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४५३ [प्रति १०००

मूल्य रु० १-८-०

भूमिका।

प्राचीन भारतका इतिहास प्रायः बिल्कुल अन्धकारमें है। प्राचीन भारतीय साहित्यमें कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो प्राचीन भारतके नियमित और व्यवस्थित दर्शन आज हमको करा सके। ऐसी दशामें यह संभव नहीं है कि उस प्राचीनकालमें हुये किन्हीं महापुरुषोंका एक यथार्थ चरित्र-ग्रंथ लिखा जा सके किन्तु इस कठिनाईके होते हुये भी प्रस्तुत पुस्तकमें भगवान महावीर और म० गौतमबुद्धके पारस्परिक जीवन-सम्बन्धोंको प्रकट करनेका जो साहस किया गया है, उसमें मूल कारण हृदयकी भक्ति तो है ही, पर हमारे पूज्य पूर्वजोंके साहित्यक ग्रन्थ, शिलालेख और मुद्रालेख इसमें पूर्ण प्रेरक और सहायक हैं। सचमुच इसी प्राचीन भारतीय साहित्यके अस्तव्यस्त ऐतिहासिक सामग्रीके बलपर इस पुस्तकको लिखनेका प्रयास किया गया है परन्तु हमारे लिये यह कहना असंभव है कि वस्तुतः हम अपने इस प्रयासमें किस हदतक सफलमनोरथ हुये हैं।

म० गौतमबुद्धका नाम आज संसारके समस्त धर्माचार्योंमें बहुप्रख्यात है। दुनियांमें सबसे अधिक संख्यामें मनुष्य उन्हींके अनुयायी हैं किन्तु इतना होते हुये भी भगवान महावीर एक अनुपम तीर्थंकर थे, वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे; यह बात स्वयं बौद्धग्रन्थोंसे प्रमाणित है, अतएव एक अनुपम तीर्थंकरका और साथ ही एक युगप्रधान महात्माका पूर्ण चरित्र प्रकट करनेका

प्रयत्न करना एक धृष्टता मात्र है। परिमित ज्ञानशक्तिको रखनेवाले अल्पज्ञ मनुष्यके लिये एक तरहसे यह असंभव ही है। पर यह सब कुछ जानते हुये भी आखिर यह पुस्तक लिखी ही गई है, इसका सब कुछ श्रेय हृदय-प्रेम, प्राचीन भारतीय साहित्य और समयकी मांगको है। अस्तु;

म० बुद्ध बौद्धधर्मके संस्थापक थे। उन्होंने ईसवी सन्‌के पहले छठी शताब्दिमें एक समयानुकूल धर्मका बीजारोपण किया था और उसे वे अपने ही जीवनमें पल्लवित कर सके थे। उस समयके प्रचलित मत-मतान्तरोंमें परस्पर ऐक्य लानेका उद्देश्य ही इस नवीन धर्मकी स्थापनामें था। इन सब बातोंका स्पष्ट दिग्दर्शन प्रस्तुत पुस्तकमें यथास्थान पाठकोंको मिलेगा। किन्हीं महाशयोंकी आज भी यह मिथ्या धारणा बनी हुई है कि म० बुद्धके इस नव-स्थापित बौद्धधर्मसे ही जैनधर्मका विकाश हुआ था; परन्तु इस पुस्तकके पढ़नेसे वे जान सकेंगे कि वस्तुतः जैनधर्म बौद्धधर्मसे प्राचीन है। भगवान महावीरके पहलेसे ही जैनधर्म चला आ रहा था। उनके एक बहुत ही दीर्घकाल पहले २३ तीर्थंकर और हो चुके थे; जिनमेंसे २३वें श्रीपार्श्वनाथजी भगवान महावीरसे केवल १५० वर्ष पहले हुये थे। इस युगके सर्व प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव थे; जिनका उल्लेख हिन्दुओंके भागवतमें (अ० ५) आठवें अवतार रूपमें हुआ है। वेदोंमें बारवें वामन अवतारका उल्लेख है। इस अपेक्षा जैनधर्मके इस युगके संस्थापक भगवान ऋषभदेव वेदोंसे भी पहले हुये प्रमाणित होते हैं। यही कारण है कि आधुनिक विद्वान् अपने अध्ययनके उपरान्त इस विषयको

पहुंचे हैं कि संभवतः जैनधर्म ही भारतका सर्व प्राचीन धर्म है।* अबतक जो शिलालेख आदि मिले हैं उनसे भी जैनधर्मकी बहु-प्राचीनताका पता चलता है। इस दशामें यह नहीं कहा जासक्ता कि जैनधर्मकी उत्पत्ति बौद्धधर्मसे या वैदिक धर्मसे हुई थी। इसी तरह भगवान महावीरजीको अथवा श्रीपार्श्वनाथजीको जैनधर्मका संस्थापक कहना निरा भूलभरा है।

जैनधर्मके किन्हीं सिद्धान्तोंकी सदृशता यद्यपि बौद्धधर्ममें मिलती है; परन्तु दोनों ही धर्मोंमें जमीन आस्मानका अंतर है, यह बात पाठकगण प्रस्तुत पुस्तकके पाठसे जान सकेंगे। जिस तरह म० बुद्ध और भ० महावीरके जीवनसम्बन्ध बिल्कुल विभिन्न थे वैसे ही उनके धर्म थे, यह व्याख्या आधुनिक प्राच्यविद्याविशारदोंको भी मान्य है। + जो सिद्धान्त बौद्धधर्ममें मिलते हैं जैन-धर्ममें उनका प्रायः अभाव है। बुद्धके निकट तपश्चरणकी मुख्यता स्थान नहीं रखती थी। उनने जैनमुनिकी अवस्थासे भ्रष्ट होकर अपने लिये एक 'मध्यका मार्ग' ढूंढ निकाला था और उसीका उपदेश अपने शिष्योंको दिया था किन्तु भगवान महावीरने ज्ञान-ध्यानमय साधु-जीवनमें तपश्चरणको भी मुख्य माना था; यद्यपि केवल कायक्लेशको उनने भी बुरा बतलाया था। इसी तरह अहिंसाको यद्यपि म० बुद्धने भी स्वीकार किया था, परन्तु उसका वह व्यापक रूप उनको स्वीकृत नहीं था; जो उसको जैनधर्ममें नसीब रहा है। कर्मसिद्धान्तको भी म० बुद्धने माना था पर कर्मको एक

* देखो 'वीर' वर्ष ३ अंक १२-१३.

+ केम्ब्रेज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया पृ० १६१.

सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ नहीं माना था; जैसे कि जैनधर्ममें माना गया है। सिद्धान्तोंके अतिरिक्त बाहिरवारीकी मोटी बातोंमें भी दोनों धर्मोंमें अन्तर मौजूद रहा है। बौद्धभिक्षु वस्त्र धारण करते, निमंत्रण स्वीकार करते और मृत पशुओंका मांस भी ग्रहण करते रहे हैं, परन्तु जैन साधु सर्वोच्च दशामें सर्वथा नग्न रहते, निमंत्रण स्वीकार नहीं करते, उद्देशिक भोजन नहीं करते और मांसभोजन सर्वथा नहीं करते रहे हैं। बौद्धसंघ और जैनसंघमें बड़ा अन्तर है। बौद्धसंघमें केवल भिक्षु और भिक्षुणी सम्मिलित थे, परन्तु जैनसंघमें साधु-साध्वियोंके अतिरिक्त श्रावक-श्राविकायें भी सम्मिलित थे। कोई विद्वान् इसी विशेषताके कारण जैनसंघका अस्तित्व भारतमें अनेकों आफतें सहकर भी रहते स्वीकार करते हैं। इसी प्रकारके प्रकट भेद जैन और बौद्धमतोंमें मिलते हैं; जिनका दिग्दर्शन प्रस्तुत पुस्तकमें यथासंभव करा दिया गया है। अस्तु;

इस पुस्तकके अन्तमें जो परिशिष्ट बौद्धसाहित्यमें आए हुए जैन उल्लेखोंका दे दिया गया है; उससे जैनसिद्धांतों और नियमोंका परिचय समुचित रूपमें होता है। उनसे स्पष्ट प्रगट है कि जैनसिद्धांत जिसप्रकार आजसे ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीरजी द्वारा प्रतिपादित हुआ था ठीक उसीप्रकार वह आज हमको मिल रहा है। इतने लम्बे कालान्तरमें भी उसका यथाविधि रहना उसकी पूर्णता और वैज्ञानिकताका द्योतक है। इससे जैनधर्मकी आर्षता और वैज्ञानिकता प्रमाणित है। इस परिशिष्टको श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर ब्र॰ शीतलप्रसादजीने देखकर हमें उचित सम्मतियोंसे अनुग्रहीत किया है, यह प्रगट करते हमें हर्ष है।

इसके अतिरिक्त श्रीमान् डॉ॰ विमलचरण लॉ॰ एम॰ ए॰, बी॰ एल॰, पी एच॰ डी॰, एफ॰ आर॰ हिस्ट॰ एस॰ (लंडन) वकील व जमीन्दार कलकत्ताने जो अंग्रेजीमें प्रस्तावना लिख देनेकी उदारता दिखाई है, उसके लिए हम उनके बड़े आभारी हैं। आपने प्रस्तुत पुस्तकके महत्वको प्रकट करते हुये बौद्ध और जैनधर्मके कतिपय सिद्धांत-भेदोंको परिमित शब्दोंमें समुचित रीतिसे स्पष्ट कर दिया है। आप बतलाते हैं कि जैनधर्मका आकाश द्रव्य बौद्ध धर्ममें नहीं मिलता हैं। कर्मसिद्धांत यद्यपि जैन और बौद्धधर्मोंमें स्वीकृत है, परन्तु जैनधर्ममें वह एक पौद्गलिक पदार्थ है और बौद्धधर्ममें केवल एक नियम मात्र ही है। डॉ॰ सा॰का भी भाव केवल बाह्य सदृशताको बतानेका है। जीव-अजीव तत्त्व बौद्धधर्ममें जैनधर्मसे विरुद्ध अर्थको लिए हुए बतलाये हैं। बौद्धधर्ममें जीवसे भाव 'प्राण' के और अजीवसे प्राणहीनके हैं। आश्रव तत्वके भाव भी दोनों धर्मोंमें विभिन्न हैं। जैनधर्ममें कर्मवर्गणाओंका आगमन आश्रव बतलाया गया है, जब कि बौद्धधर्ममें इसके मानें 'पाप' (Sin)के किये गए हैं। जैनधर्मका 'बंध' तत्व बौद्धधर्मके "संवर" तत्वके समान कहा गया हैं। बौद्धधर्ममें 'बंध' संयोजनाके भावमें व्यवहृत हुआ मिलता है। जैन 'निर्जरा' तत्वके समान कोई तत्त्व बौद्धदर्शनमें नहीं है। जैनियोंके 'मोक्ष' तत्वका भाव भी बौद्धधर्ममें कहीं नहीं मिलता है। जैनियोंके 'धर्मास्तिकाय' द्रव्यकी समानता डॉ॰ सा॰ प्रायः बौद्धोंके 'पटिच्चसमुप्पाद' (Paticcasamuppâda) से करते हैं। वह केवल बाह्य-रूपमें भले ही हो, वैसे यह द्रव्य केवल जैनदर्शनकी ही अनूठी वस्तु

है। शेषके पांच द्रव्य भी जो जैनधर्ममें स्वीकृत हैं बौद्धधर्ममें नहीं मिलते हैं। जैनशास्त्रोंमें 'श्रावक' शब्दके भाव एक जैनी गृहस्थके हैं, परन्तु बौद्धोंके निकट इसके भाव एक बौद्धभिक्षुके हैं। इसीतरह बौद्धोंका 'रत्नत्रय' जैन 'रत्नत्रय'के नितान्त विपरीत है। ऐसे ही खास २ भेदोंको डॉ० साहबने अपनी प्रस्तावनामें अच्छी तरह दर्शा दिया है। अंग्रेजी विज्ञ पाठक उसको पढ़कर विशेष लाभ उठा सकेंगे, इसके लिये हम डॉ० सा० का पुनः आभार स्वीकार करते हैं तथापि उन सब आचार्यों और लेखकोंके भी हम आभारी हैं, जिनके ग्रन्थोंसे हमने यह पुस्तक लिखनेमें सहायता की है।

अन्तमें हम अपने प्रियमित्र सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़ियाको धन्यवाद दिये विना भी नहीं रह सक्ते, जिनकी कृपासे यह पुस्तक प्रकाशमें आरही है और "दिगम्बर जैन" के ग्राहकोंको भेंट स्वरूप भी मिल रही है व इस तरहपर इसका जल्दी ही बहुप्रचार होरहा है। हमें विश्वास है कि विद्वज्जन इसे विशेष उपयोगी पायेंगे और यदि कोई त्रुटि इसमें देखेंगे तो उसको सूचित कर अनुग्रहीत बनायेंगे। इत्यलम्।

जसवन्तनगर (इटावा)
माघ शुक्ला पूर्णिमा,
वीर नि० सं० २४५१.

विनीत—
कामताप्रसाद जैन।



पूज्या माताजीकी

पवित्र स्मृतिमें

उत्सर्गीकृत है।

—लेखक।

Foreword.

It gives me great pleasure to accede to the request of Mr. Kamta Prasad Jain, to put down a few words of introduction to his volume on "*Bhagvān Mahāvira aur Sambuddha.*" Mr. Jain has already made his name as a researcher in the field of Janism by his well-known works, "*Bhagvān Mahāvira*" and "*Bhagvān Mahāvira aur Unkă Upadesa.*" The present volume is very useful addition to the literature on the subject. It is ably written in very simple Hindi. The author has, in this treatise, discussed the following topics:—India at the time of Mahāvira and the Buddha, early life of these two teachers, their household and religious life, attainment of knowledge, preachings and the respective dates of their advent He has elaborately dealt with the Dharma of Mahavira and the Buddha, and has noted points of similarity and dissimilarity between the two religions. In the footnotes he has acknowledged his indebtedness to the authors from whom he has taken help. He has taken pains to consult the original Buddhist and Jain texts.

Jainism played an important part in the religious history of Ancient India. There can be no doubt that it is older than Buddhism. According to tradition the principles of Jainism existed in India from the earliest times. There is probably a refernce to Jainism in the Adîparva of the Mahābhārata.

It appears from the Samyutta Nikāya that Mahāvira was senior to the Buddha in age (1.68). The traditional date of Mahāvira's death corresponds to the year 470 before the foundation of the Vikrama Era, i. e. 528 B.C. (Cambridge History of Ancient India, Vol. I, p. 155).

Dr. Charpentier rejects this date and prefers the date 468 B. C. His view is, however, contradicted by a passage in the Digha Nikāya (I. 156). We know on the authorities of the Sāmagāma Suttanta of the Majjhima Nikāya (II., 243) and the Pātika Suttanta of the Digha Nikāya (III., p. I.). that Mahāvira predeceased Buddha by a few years. Dr. Hoernle thinks that Mahāvira died some five years before the Buddha. We may very well assume that the great prophet died about 500 B. C. in round numbers. Vardhamāna Mahāvira was undoubtedly a revealer of things seen and heard by him. He was highly esteemed by the people. The Records describe him as noble, glorious, full of faith, knowledge and virtue, the best of those who taught Nirvana. Buddha, his contemporary, was also a great preacher. It will, I think, not be quite out of place to discuss here a few topics of the rival religions founded by these two eminent men and note their points of similarity and dissimilarity.

Akāsa—In Jainism it means *space*. Space has two divisions :-Loka (universe) and Aloka (the nonuniverse). In the universe there are six Dravyas. In the Aloka there is only endless space. We do not find exactly this idea in Buddhism.

Karma—Jainism recognises various kinds of *Karma*. Mahāvira holds that the evil or good which is given to all sentient creatures is the fruit of the karma of former existences. They are born through the cause and by reason of love and desire. Through cause and reason are old age and disease. We find the same idea in Buddhism. Mahāvira holds that many men have been born according to their merit as inhabitants of this

human world. Undoubtedly he had a strong faith in the effect of karma. In Buddhism too there are various divisions of karma and there are many kinds of acts or consequences which are manifested in their true aspects in the Buddha's knowledge or the consequences of karma.

Jiva and Ajiva—According to Jainism Jiva means soul, Ajiva means non-soul. In Buddhism Jiva means living principle (life, prán). Ajiva means lifeless thing. According to Jainism Jiva and Ajiva are in combination and the link between them is that of karma. (cf. Outlines of Jainsim by Mr. Jagmanderlal Jaini).

Soul—In Jainism it is affected by attachment, aversion, affection, infatuation, in the form of the four passions helped by the activity of body, mind and speech. This activity is known as Yoga. There are two kinds of Ăsrava: Bhavasrava and Dravyăsrava. Bhavăsrava means the condition of the soul which makes Asrava possible and Dravyăsrava means the actual matter attracted by the soul. It is what the Jains call objective Ăsrava. This idea is quite different from that of Buddhism. In Buddhism ăsrva means sin and it refers to karma (sensual pleasure), bhava (birth), ditthi (false belief) and avijjă (Ignorance).

Bandhana—In Jainism it means bondage and it is of four kinds. In Buddhism it means Samyojana. Bandhana in Jainism is almost akin to Samvara in Buddhism which means restraint in body, mind and speech. It really means that the inflow of *karmic matter* may be stopped for the soul is independent.

Nirjará—There is nothing like this in Buddhism. In Jainism it means the falling away of the *karmic matter* from soul. The fetters themselves may fall down, and the soul may become free.

Mokkha—In Jainism it means a complete freedom of the soul from the karmic matter. This idea is unknown to Buddhism.

There are many things in Jainism which are unknown to Buddhism e. g. *sàdhana, adhikarana, Sthiti, Vidhàna* etc.

Srâvaka—In Jainism any householder who follows the teaching of the Tirthankaras is called a *srâvaka*. In Buddhism srăvaka means generally a Bhikkhu or a Sramana, particularly an Arahat or a disciple of the Buddha who has destroyed all sins, and has obtained Nirvāna in this present existence.

Right Conduct—It is the third jewel in Jainism. It means leading a life according to the light gained jointly by the first two, viz., right conviction and right knowledge. This idea is quite different from that of the Buddhist Tiratana (three jewels).

Right Knowledge—The Buddhist view is to see things as they are, and not to take a wrong view of things. The Jaina view is exactly the same. But in Jainism there are five kinds of right knowledge which are absent in Buddhism.

False knowledge—According to the Buddhists, false knowledge is not to have any knowledge of four noble truths, Dukkham, Dukkhasamudāyam, Dukkhanirodham, and Dukkhanirodhagāminipatipadā. This idea is absent in Jainism.

As to the ethics of the Jains and the Buddhists we should note that both the Jains and the Buddhists prohibit the slaughter of living beings. All kinds of intoxicants are prohibited in Jainism as well as Buddhism. Certain trades are prohibited to the Jainas, viz. fishing, butchery, wholesale slaughter of living beings, brewing, and to the

Buddhists the following pannacavānijjā are prohibited—sale of living beings, sale of weapons, sale of fish, sale of flesh and the sale of spirituous liquor. It is no doubt true that a true Jaina and a true Buddhist will not hurt the feelings of others, nor will they violate the principles of Jainism and Buddhism. The most important precept of Jainism is, "Do your duty, do it as humanely as you can." Thus we see that both the Jains and Buddhists propound the most noble doctrines which are beneficial to the world.

Six kinds of substances or Dravyas are recognised in Jainism :—(1) *Dharmàstikàya,* (2) *Adharmâstikâya,* (3) *Akàshastikàya,* (4) *Pudgalâstikàya,* (5) *Jivàstikâya* and (6) *Kàla.*

(1) *Dharmàstkàya*—The Jaina idea of *Dharmàstikàya* is almost similar to *Paticcasàmuppāda* (dependant orijination) of the Buddhists.

(2, 3 & 5) *Adharmāstikàya, Akàshastikāya and Jivâstikâya* are unknown to Buddhism.

(4) *Pudgalāstikâya*—According to the Jains, it is the substance, the nature of which is that its qualities, colour, etc. increase and decrease. Matter is made up of atoms. The atom is minute, permanent and has no *pradesas.* This idea is absent in Buddhism. Buddhism preaches impermanancy of all things except *Nibbaña* and *ākâsadhātu.*

God—In Buddhism as well as Jainism there is no creator—god. But however in Jainism we have the following conception of God :—

(1) Something superior to ordinary man.

(2) A real living being, not a bare principle.

(3) Self-existent.

(4) A source of scriptures.

(5) A being worthy of worship.

Hell—It is interesting to note that both Buddhist and Jain ideas of suffering in hell are almost identical. Among the Jains we have the belief that in hell there is suffering from heat and cold. The sinners are cut, pierced and hacked to pieces by swords and other weapons. They undergo very acute and horrible pain. If they commit evil deeds and injure others without repentance they go to hell and cross the river *Baitaraṇi*, the waves of which cut like sharp razors. In *Asurya* hell they are roasted. The sinners are hewn with axes like pieces of timber in another hell. There are other hells according to the Jains where sinners suffer according to their sinful deeds done by them while on earth. The noses, ears and lips of sinners are cut by razors and the tongues are pulled out by sharp pikes, they are thrown into large couldrons and boild there, they are compelled to drink molten lead when they are thirsty. The evil doers are tortured more than a thousand years in the terrible *Baitālika* mountain in hell. The sinners are tortured day and night. They cry at the top of their voice in a dreadful hell which contains various implements of torture. Almost identical ideas of suffering in Buddhist hells can be gathered from the account of hells given in my work, " *Heaven and Hell in Buddhist Perspective*" (p. 92 *et seq*).

Bimala Churn Law,
M. A. B. L. Ph. D. F. R. HIST. S.
(London).

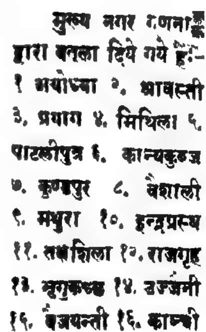


विषय-सूची ।

शुद्धाशुद्धि पत्र ।

पृ०	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
११	११	जैन	जैन१
१२ फुट नोट	१	चदित्र	चरित्र
१९	११	केवळ	के वल
४३	५	आवजीविकों	आजीविकों
४६	११	आरदिकालम	आरादकालाम
५१ फु० नो०	५	बनकर	बनवा
५१ ,,	५	सुपार्श्वथ	सुपार्श्वनाथ
६०	२	अरविना	अरविन्न
८७	१८	महावीरके	महावीरके द्वारा
९०	१५	अवस्था भी	अवस्थामें भी
९५	४	दिगम्बरी व	दिगम्बरी
११६	६	ववरवाहन	(नरवाहन)
१७०	११	दजकी	दरजेकी
१८०	१०	परिवर्त्तन	प्रवर्तन
१८५	११	एवं आदर्श	आदर्श
१८७	६	जैन बुद्धधर्म	ज़ेन बुद्धधर्म (Zen Buddhism)
१९१	१	भषवान	भगवान
२१० फु० नो०	३	पृष्ठ	पृष्ठ ६१
२२० फुट नोट		,,	पृष्ठ १२३

प्राचीन भारत
के
मुख्य प्रदेश और नदियां।



मुख्य नगर गणनाङ्क
द्वारा बतला दिये गये हैं:-
१ अयोध्या २. श्रावस्ती
३. प्रयाग ४. मिथिला ५.
पाटलीपुत्र ६. कान्यकुब्ज
७. कुण्डपुर ८. वैशाली
९. मथुरा १०. इन्द्रप्रस्थ
११. तक्षशिला १२. राजगृह
१३. भृगुकच्छ १४. उज्जैनी
१५. वैजयन्ती १६. काञ्ची

कलामय छापा नकशा, सुरत.

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध ।

मंगलाचरण ।

" यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा–
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषंतं–
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ॥ "

—श्रीअकलंकभट्टः ।

(१)

भगवान महावीर और महात्मा बुद्धके समयका भारत ।

भारतवर्ष वही है जो पहले था। इसके नाममें, इसके रूपमें, इसके वेषमें, इसके शरीरमें–हां किसी तरफसे भी विरुद्धता नजर नहीं आती। वही पृथ्वी है; वही नीलाकाश है, वही कलकल कलरवकारिणी सरितायें हैं; वही निश्चल निस्तब्ध गंभीर पर्वत हैं; सचमुच सबकुछ वही वही दृष्टि आता है। जो जैसा था वैसा दृष्टिगत होरहा है–कहीं भी अन्तर दिखाई नहीं पड़ता है। मनुष्य वही आर्य हैं–आर्यखंडके अधिवासी प्रतीत होते हैं। यद्यपि इनके

विषयमें यह अवश्य संशयात्मक है कि वस्तुतः क्या इनमें सर्व ही आर्यवंशज हैं ? परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि मूलमें भारतवासी आर्य हैं और जब यह आर्य हैं तब इनके रीति रिवाज भी प्राचीन आर्यों जैसे होना ही चाहिये ! किन्तु यदि यही बात सच है कि जो दशा पहले--मुद्दतों--युगों पहले थी वही आज है तो फिर संसारमें परिवर्तनशीलताका अस्तित्व कहां रहा ? क्या युगों पहलेके भारतवर्षमें और आजके भारतवर्षमें कुछ भी अन्तर नहीं है ? भारतवर्षका ज्ञात इतिहास इस बातका स्पष्ट दिग्दर्शन करा देता है कि नहीं, भारतवर्ष जैसा १५ वीं १६ वीं शताब्दिमें था वैसा आज नहीं है और जैसा ईसाकी प्रारंभिक शताब्दियोंमें था वैसा उपरोक्त मध्यकालीन शताब्दियोंमें नहीं था: तो फिर उसका सनातनरूप कहां रहा ? वह जैसा पहले था वैसा आज है यह कैसे माना जाय ? बात बिल्कुल ठीक है; भारतका रूप, भारतकी दशा और भारतकी आकृति समयानुसार रङ्ग बदलती रही है; परन्तु क्या कभी उस क्षेत्रका अभाव हुआ जो भारतवर्ष कहलाता है अथवा वहांके अधिवासियोंका अन्त हुआ जो भारतवासी कहलाते हैं ? नहीं, यह सब बातें ज्योंकी त्यों रही हैं। ऐसी अवस्थामें सामान्यतः यहां पर एक गोरखधन्धासा नेत्रोंके अगाड़ी उपस्थित होजाता है, किन्तु यदि उसका निर्णय यथार्थ सत्यके प्रकाशमें--वस्तु--स्थितिके धवल उज्जवल आलोकमें करें तो हम स्थितिको सहज सहज समझ जाते हैं।

संसारमें जितनी भी वस्तुयें हैं वह सत्‌रूप हैं। उनका कभी नाश नहीं होता, किन्तु उनमें परिवर्तन अवश्य होता रहा है।

एक अवस्थाका जन्म होता है तो उसका अस्तित्व होजाता है; परन्तु उसके नाशके साथ ही दूसरी अवस्था उत्पन्न होजाती है। यह क्रम योंही चालू रहा है और अगाड़ी रहेगा। यही संसार है। अब हम सहज समझ सक्के हैं कि भारतवर्ष मूलमें तो वही है जो युगों पहले था; परन्तु उसकी हर अवस्थामें अनेकों रूपान्तर समयानुसार अवश्य हुए हैं। यही उसका वास्तविक रूप है। अस्तु;

भारतवर्ष मूलमें तो वही है जो भगवान महावीर और म० बुद्धके समयमें था; परन्तु तबकी दशा और अबकी दशा इस प्राचीन भारतको अवश्य ही जमीन आस्मान जैसा अन्तर रखती है। इतना महत् अंतर और फिर एकता। यही यथार्थ सत्यकी विचित्रता है। आज कर्णफूलों और गलेबन्दसे कामिनीकी शोभा बढ़ रही थी–कल तबियत बदली–कर्णफूल और गलेबन्द नष्ट कर दिये गये–चंदनहार और कंघन उसके वक्षस्थल एवं करोंको अलंकृत करने लगे। यहां तो पूरा कायापलट होगया, परंतु सोना तो वहीका वही रहा; मूल उसका जब था सो अब है।

अस्तु, भारतवर्ष वही है जो भगवान महावीर और म० बुद्धके समयमें था; परन्तु उसमें हर तरफसे उलट फेरके चिन्ह नजर आते हैं। आज यहांके मनुष्य ही न उतने प्रतिभा और शक्तिसम्पन्न हैं और न उतने दीर्घजीवी हैं। आजके भारतकी नैतिक और धार्मिक प्रवृत्ति न उस समय जैसी है और न उसकी प्रधानताका सिक्का किसीके हृदयपर जमा हुआ है। आज यहांके निवासी बिलकुल दीन-हीन रंक बने हुये हैं। बुद्धि, बल, ऐश्वर्य सबका दिवाला निकाले बैठे हैं। तबके भारतका अनुकरण अन्य देश करते थे और उसको

अपना गुरु मानकर यूनान सदृश उन्नतशाली देशके विद्वान् जैसे पैर्हो (Pyrrho) यहां विद्याध्ययन करने आते थे, परन्तु आज उल्टी गंगा बह रही है। स्वयं भारतीय इन विदेशोंमें जाकर ज्ञानोपार्जनका मिस कर रहे हैं और उन देशोंकी नकल आंख मींचकर किये चले जारहे हैं। इस भौतिक-सभ्यताकी उपासनाका कितना कटु परिणाम भारतको शीघ्र ही भुगतना पड़ेगा, यह अभी इस देशके अधिवासियोंकी समझमें नहीं आया है, परन्तु जमाना उनकी आंखें खोलेगा अवश्य ! और तब वे प्राचीन भारतकी ओर आशाभरे नेत्रोंसे देखेंगे। इसलिये यहांपर प्राचीन और अर्वाचीन भारतकी तुलना न करके हम उसकी ईसासे पूर्व छठी शताब्दिमें जो दशा थी उसका ही किंचित् दिग्दर्शन करके उस समयके उन दो चमकते हुये रत्नोंका परिचय प्राप्त करेंगे, जिनके प्रति आज पाश्चमीय सभ्यताके विद्वान् भौंरे बने हुये हैं।

किसी भी देशकी किसी समयकी हालत जाननेके लिये उस देशकी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितिको जानना आवश्यक है। जबतक उस देशकी इन सब दशाओंका चित्र हमारे नेत्रोंके अगाड़ी नहीं खिंच जायगा तबतक उस देशका सच्चा और यथार्थ परिचय पाना कठिन है। आज भारतियोंके पतनका यह भी एक मुख्य कारण है कि वे अपने प्राचीन पुरुषोंके इतिहाससे प्राय: अनभिज्ञ हैं। प्रत्येक जातिका उत्थान उसके प्राचीन आदर्शोंको उसके प्रत्येक सदस्यके हृदयमें बिठा देनेपर बहुत कुछ अवलम्बित है, अतएव यहांपर हम उस समयके भारतकी इन दशाओंका किंचित वृत्त निम्नमें अंकित करते हैं।

ईसाकी छठी शताब्दि भारतके लिये ही नहीं बल्कि सारे संसारके लिए एक अपूर्व शताब्दि थी। कोई भी देश ऐसा न बचा था जो इसके क्रांतिकारी प्रभावसे अछूता रहा हो। भारतमें इसका रोमांचकारी प्रभाव खूब ही रङ्ग लाया था। राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सब ही अवस्थाओंमें इसने रूपान्तर लाकर खड़े कर दिये थे। मनुष्य हर तरहसे सच्ची स्वाधीनताके उपासक बन गये थे, परन्तु इसमें उस समयके दो चमकते हुए रत्नों —भगवान महावीर और म० बुद्ध—का अस्तित्व मूल कारण था।

उस समय यहांकी राजनैतिक परिस्थिति अजब रङ्ग लारही थी। साम्राज्यवादका प्रायः सर्व ठौर एकछत्र राज्य नहीं था; प्रत्युत प्रजातंत्रके ढंगके गणराज्य भी मौजूद थे। एक ओर स्वाधीन राजाओंकी बांकी आनमें भारतीय प्रजा सुखकी नींद सो रही थी; तो दूसरी ओर गणराज्योंके उत्तरदायित्वपूर्ण प्रबंधमें सब लोग स्वतंत्रता पूर्वक स्वराज्यका उपभोग कर रहे थे। दोनों ओर रामराज्य छा रहा था। इन गणराज्योंका प्रबंध ठीक आजकलके ढंगके प्रजातंत्रात्मक राज्योंकी तरह किया जाता था। नियमितरूपसे प्रतिनिधियोंका चुनाव होता था; जो राज्यकीय मन्डल अथवा 'सांथागार' में जाकर जनताके सच्चे हितकी कामनासे व्यवस्थाकी योजना करते थे। न्यायालयोंका प्रबंध भी प्रायः आजकलके ढंगका था; परन्तु उस समय वकील—बैरिष्टरोंकी आवश्यक्ता नहीं थी। न्यायाधीश स्वयं वादी—प्रतिवादीके कथनकी जांच करते थे और यही नहीं कि प्रारंभिक न्यायालय जो जांच करदे वही बहाल रहे, प्रत्युत ऊपरके न्यायालय भी स्वयं स्थितिकी पड़ताल करते थे। प्रचलित

कानूनोंकी किताब भी मौजूद थी और 'फुलबैन्चकी' तरह 'अट्ठकूलक' न्यायालय सदृश न्यायालय भी थे। इस प्रजातंत्रात्मक गणराज्यका आदर्श हमें उस समयके लिच्छवि क्षत्रियोंके विवरणमें मिलता है।[1] जैन और बौद्ध ग्रंथ इनके विषयमें प्रचुर प्रकाश उपस्थित करते हैं। इन ग्रंथोंके अध्ययनसे मालूम होता है कि उस समय प्रख्यात् गणराज्य इसप्रकार थे:-

(१) लिच्छिवि गणराज्य-इसमें इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रियोंका आधिक्य था और इसकी राजधानी विशाला अथवा वैशाली विशेष समृद्धिशाली नगरी थी। इस गणराज्यके प्रधान राजा चेटक थे। बौद्धग्रंथ इस राज्यमें आठ कुलोंके क्षत्रियोंका प्रतिनिधित्व बतलाते हैं, परन्तु जैनोंके ग्रंथमें उनकी संख्या नौ है।[2] इस गणराज्यकी राजधानी वैशालीके निकट अवस्थित कुन्डपुर अथवा कुन्डनगरके क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ थे, जो भगवान महावीरके पिता थे। वे संभवतः इसी गणराज्यमें संमिलित थे और इसी कारण भगवान महावीरका उल्लेख कभी २ 'वैशालिय' के रूपमें हुआ है। वह गणराज्य विशेष समृद्धिशाली था और यहां जैनधर्मकी मान्यता अधिक थी।[3] काशी और कौशलके गणराज्य, जिनके प्रतिनिधि (जो 'राजा' कहलाते थे) श्वे० जैन शास्त्र 'कल्पसूत्र' में अठारह बतलाये गये हैं, संभवतः इनसे सम्बंधित थे। इन सब गणराज्योंकी

---

१. देखो वर्तमान लेखककी 'भगवान महावीर' नामक पुस्तक। (पृष्ठ ५७)

२. जैनसूत्र। सैक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट। भाग २२ पृष्ठ २६६।

३. क्षत्रिय क्लैन्स इन बुधिस्ट इन्डिया-(वैशाली और लिच्छिवि) पृष्ठ ८६।

व्यवस्थापक सभा 'वज्जियन राजसंघ' कहलाती थी। उस समय इन लोगोंकी शक्ति विशेष प्रबल थी। यहांतक कि मगधाधिपति भी सहसा इनपर आक्रमण नहीं कर सके थे; बल्कि पहले तो स्वयं चेटकने एकदफे जाकर राजगृहका घेरा डाल दिया था। और अन्ततः राजा श्रेणिक और चेटकमें समझौता होगया था।[१]

(२) शाक्य गणराज्य—इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी और यहांके प्रधान राजा शुद्धोदन थे। यही म० बुद्धके पिता थे। बुद्धकी जन्मनगरी यही थी। इनकी भी सत्ता उस समय अच्छी थी।

(३) मल्ल गणराज्यमें मल्लवंशीय क्षत्रियोंकी प्रधानता थी। बौद्ध ग्रन्थोंसे पता चलता है कि यह दो भागोंमें विभाजित था। कुसीनारा जिस भागकी राजधानी थी उससे म० बुद्धका सम्बंध विशेष रहा था और दूसरे भागकी राजधानी पावा थी, जहांसे भगवान महावीरने निर्वाण लाभ किया था। श्वेताम्बरियोंके 'कल्पसूत्र' में यहांके प्रधान राजा हस्तिपाल और नौ प्रतिनिधि राजा बतलाये गये हैं।

(४) कोल्यि गणराज्य था। इसकी राजधानी रामगांम थी और इसमें कोल्यि जातिके क्षत्रियोंका प्राबल्य था।

शेषमें सुन्समार पर्वतका भग्ग गणराज्य, अल्लकप्पके बुलि-गण, पिप्पलिवनके मोरीयगण आदि अन्य कई छोटे मोटे गणराज्य भी थे जिनका विशेष वर्णन कुछ ज्ञात नहीं है। इनके अतिरिक्त दूसरी प्रकारकी राज्यव्यवस्था स्वाधीन राजाओंकी थी। इनमें विशेष प्रख्यात प्रजाधीश निम्नप्रकार थे:—

(१) मगध—के सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार। इनकी राजधानी

१. देखो वर्तमान लेखकका 'भगवान महावीर' पृष्ठ १४१।

राजगृह थी। यह पहले बौद्ध थे, परन्तु उपरांत रानी चेलनीके प्रयत्नसे जैनधर्मानुयायी हुए थे।[1]

(२) उत्तरीय कौशल—का राज्य मगधसे उत्तर पश्चिमकी ओर था; जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। यहांके राजा पहले अग्निदत्त (पसेनदी) थे। उपरांत उनके पुत्र विदुदाम राज्याधिकारी हुए थे।[2]

(३) कौशलसे दक्षिणकी ओर वत्स राज्य था और उसकी राज्यधानी कोशाम्बी यमुना किनारे थी। यहांके राजा उदेन (उदायन) थे, जिनके पिताका नाम परन्तप, बौद्ध शास्त्रोंमें बतलाया गया है।[2] जैन शास्त्रोंमें जो राजा उदायन अपने सम्यक्त्वके लिये प्रसिद्ध हैं, वह इनसे भिन्न हैं। श्वे० शास्त्रोंमें इनके पिताका नाम शतानीक बतलाया है।[3] तथापि यही नाम दि० सम्प्रदायके उत्तरपुराणमें भी बतलाया गया है।*

(४) इससे दक्षिणकी ओर अवन्तीका राज्य स्थित था; जिसकी राजधानी उज्जयनी थी, और यहांके राजा चन्द्रप्रद्योत विशेष प्रख्यात थे। जैन शास्त्रोंमें इनके विषयमें भी प्रचुर विवरण मिलता है।

(५) कलिङ्गके राजा जितशत्रु थे और यह भगवान महावीरके फूफा थे।

(६) अङ्ग पहले दधिवाहन राजाके आधीन स्वतंत्र राज्य था; परन्तु उपरांत मगधाधिपके आधीन होगया था और यहांके राजा कुणिक अजातशत्रु हुये थे, जो सम्राट् श्रेणिकके पुत्र थे।

१ देखो हमारा 'भगवान महावीर' पृष्ठ १४२–१४८।
२ बुद्धिस्ट इंडिया पृष्ठ ३।
३ एन इपीटोम ऑफ जैनीजम पृष्ठ ६५०।
* उत्तर पुराण पृष्ठ ६३४।

इनके अतिरिक्त और भी छोटे मोटे राज्य थे; जिनका विशेष परिचय यहांपर कराना दुष्कर है। इतना स्पष्ट है कि उस समय जो प्रख्यात राज्य थे; फिर चाहे वह गण राज्य थे अथवा स्वाधीन साम्राज्य; उनकी संख्या कुल सोलह थी। मि० हीस डेविड्स उनकी गणना इस प्रकार करते हैं:—

(१) अङ्ग—राजधानी चम्पा; (२) मगध—राजधानी राजगृह; (३) काशी—रा० धा० बनारस; (४) कौशल (आधुनिक नेपाल)—रा० धा० श्रावस्ती; (५) वज्जियन—रा० धा० वैशाली; (६) मल्ल रा० धा० पावा और कुसीनारा; (७) चेतीयगण—उत्तरीय पर्वतोंमें अवस्थित था; (८) वन्स या वत्स—रा० धा० कौशाम्बी; (९) कुरु—राजधानी इंद्रप्रस्थ (दिल्ली)। इसके पूर्वमें पाञ्चाल और दक्षिणमें मत्स्य था। रत्थपाल कुरुवंशीय सरदार थे; (१०) पाञ्चाल, यह कुरुके पूर्वमें पर्वतों और गंगाके मध्य अवस्थित था और दो विभागोंमें विभाजित था; रा०धा० कंपिल्ल और कन्नौज थी; (११) मत्स्य—कुरुके दक्षिणमें और जमनाके पश्चिममें था; (१२) सूरसेन—जमनाके पश्चिममें और मत्स्यके दक्षिण-पश्चिममें था;—रा०धा०मथुरा; (१३) अस्सक—अवन्तीके उत्तर-पश्चिममें गोदावरीके निकट अवस्थित था—रा० धा० पोतन या पोतलि; (१४) अवन्ती—रा०धा० उज्जयनी; ईशाकी दुसरी शताब्दि तक यह अवन्ती कहलाई; परन्तु ७वीं या ८वीं शताब्दिके उपरांत यह मालव कहलाने लगी; (१५) गान्धार—आजकलका कन्धार है—रा०धा० तक्षशिला, राजा पुक्कु साति और (१६) कम्बोज—उत्तर-पश्चिमके ठेठ छोरपर थी, राजधानी द्वारिका थी।[१]

---

१ बुद्धिस्ट इंडिया पृष्ठ २१।

इन राज्योंमें परस्पर मित्रता थी और बहुधा वे एक दूसरेसे सम्बंधित भी थे; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनमें कभी परस्पर रणभेरी न बजती हो। यदाकदा संग्राम होनेका उल्लेख भी हमें शास्त्रोंमें मिलता है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि इन राज्योंकी प्रजा विशेष शांति और सुखका उपभोग करती थी। उसे ऐसा भय नहीं था जो वह अपनी उभय उन्नति सानन्द न कर सक्ती। साम्राज्यके आधीन भी वह सुखी थी और गणराज्योंकी छत्रछायामें उसे किसी बातकी तकलीफ नहीं थी। इस प्रकार उस समयकी राज्यनैतिक परिस्थितिका वातावरण था। यह सर्वथा प्राचीन आर्योंके उपयुक्त था। सचमुच आजकी दुनियाके लिए वह अनुकरणीय आदर्श है!

उस समयकी सामाजिक परिस्थिति भी अजीब हालतमें थी। उस समयके पहले एक दीर्घकालसे ब्राह्मणोंकी प्रधानताका सिक्का समाजमें जम रहा था। ब्राह्मणोंने सामाजिक व्यवस्थाको एकतरहसे अपनी आजीविकाका कारण बना लिया था। उसी अपेक्षा उन्होंने धर्मशास्त्रोंके पठन पाठनका अधिकार इतरवर्णों—अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों—को नहीं दे रक्खा था; प्रत्युत उनके आत्मकल्याणके लिये अपने आपको पुजवाना ही इष्ट रक्खा था। जनताको बतलाया था कि तुम अमुक प्रकार यज्ञ आदि क्रियाओंको कराकर हमारी संतुष्टि करो तो तुमको स्वर्गसुखकी प्राप्ति होगी और इस स्वर्गसुखके लालचमें लोग उस समय भी यज्ञवेदीको निरापराध मूक पशुओंके रक्तसे रंगते नहीं हिचकते थे। यहां भी शूद्रादि मनुष्योंको बहुत ही नीची दृष्टिसे देखा जाता था। परिणामतः

राज्यकीय स्वतंत्रताके उस युगमें लोगोंको ब्राह्मणोंकी यह भेद-व्यवस्था और एकाधिपत्य अखर उठा। प्रचलित सामाजिक व्यवस्थाके बन्धनोंका उल्लंघन किया जाने लगा। सचमुच वर्तमानमें जो सामाजिक क्रान्ति कुछ अस्पष्ट रूपमें दिखाई पड़ रही है, ठीक वैसी ही क्रान्ति उस समयके समाजमें अपना रंग ला रही थी। ब्राह्मणोंने जहां स्वार्थभरे कठोर नियम सिरज रक्खे थे वहां बिल्कुल ढिलाईसे काम लिया जाने लगा। सामाजिक नियमोंमें सबसे मुख्य विवाह नियम है सो उस समय इसका क्षेत्र विशेष विस्तृत था और इसकी वह दुर्दशा नहीं थी जो आजकल होरही है। युवावस्थामें वर–कन्याओंके सराहनीय विवाह सम्बन्ध होते थे। उनमें गुणोंका ही लिहाज किया जाता था। जैन और बौद्धशास्त्रोंमें इस व्याख्याकी पुष्टिमें अनेकों उदाहरण मिलते हैं। ऐसा मालूम होता है कि उस जमानेमें व्यक्तिगत विवाह-सम्बन्धकी स्वाधीनताने इतना उग्ररूप धारण किया था कि किन्हीं २ राज्योंमें विवाह-सम्बन्धके खास नियम भी बना लिये गये थे। इस व्याख्याके अनुरूप अभीतक केवल एक वैशालीके लिच्छवियोंके विषयमें विदित है। उनके यहां यह नियम था कि वैशालीकी कन्यायें वैशालीके बाहर न दी जावें। तथापि जिस तरह वैशाली तीन खण्डों-(१) क्षत्रिय खण्ड, (२) ब्राह्मण खण्ड और (३) वैश्य खण्ड-में विभाजित थी उसी तरह इनके निवासियोंमें अपने और अपनेसे इतर खण्डकी कन्यासे विवाह करनेका नियम नियत था। शायद इस ही कारणसे

---

१ देखो विवाहक्षेत्रप्रकाश। २ देखो 'हिस्टॉरीकल ग्लीनिन्गुस' पृष्ठ ७२।

'सम्राट् श्रेणिकके साथ राजा चेटक अपनी कन्याका विवाह नहीं करेंगे' यह संभावना जैन शास्त्रोंमें की गई है। यद्यपि वहां इसका कारण राजा चेटकका जैनत्व और सम्राट् श्रेणिकका बौद्धत्व बतलाया गया है।[1] इसमें भी संशय नहीं है कि राजा चेटक जैन धर्मानुयायी थे, परन्तु इससे वैशालीमें उक्त प्रकार नियम होनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। वस्तुतः वैशाली, जहां जैनधर्मका प्रचार प्रारम्भसे अधिक था, यदि अपनी सामाजिक परिस्थितिको नये सुधारके प्रचलित रिवाजोंसे कुछ विलक्षण रखनेमें गर्व करे तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह हमको ज्ञात ही है कि लिच्छविगण बड़े स्वात्माभिमानी थे और वह अपने उच्चवंशी जन्मके कारण सारी समाजमें अपना सिर ऊंचा रखते थे। किन्तु इससे भी उस समयकी सामाजिक क्रांतिके अस्तित्वका समर्थन होता है; जिसके विषयमें प्राच्य विद्या महार्णव स्व० मि० ह्रीसडेविड्स भी लिखते हैं कि उस समयः—

"ऊपरके तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य) तो वास्तव मूलमें एक ही थे; क्योंकि राजा, सरदार और विप्रादि तीसरे वर्ण वैश्यके ही सदस्य थे; जिन्होने अपनेको उच्च सामाजिक पदपर स्थापित कर लिया था। वस्तुतः ऐसे परिवर्तन होना जरा कठिन थे परन्तु ऐसे परिवर्तनोंका होना संभव था। गरीब मनुष्य राजा-सरदार (Nobles) बन सक्ते थे और फिर दोनों ही ब्राह्मण होसक्ते थे। ऐसे परिवर्तनोंके अनेकों उदाहरण ग्रन्थोंमें मिलते हैं।........

१ देखो 'श्रेणिकचरित्र'।

२ देखो 'दी क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिष्ट इंडिया' पृष्ठ ८२।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणोंके क्रियाकांडके एवं सर्व प्रकारकी सामाजिक परिस्थितिके पुरुष-स्त्रियोंके परस्पर सम्बन्धके भी उदारण मिलते हैं और यह उदाहरण केवल उच्च परिस्थितिके ही पुरुष और नीच कन्याओंके संबंधके नहीं है, बल्कि नीच पुरुष और उच्च स्त्रियोंके भी हैं।"[१]

अतएव वस्तुतः उस समय ऐसी सामाजिक परिस्थित होना कुछ अचरज भरी बात नहीं है। स्वयं म० बुद्ध और भगवान महावीरके उपदेशसे सामाजिक परिस्थितिकी उल्झी गुत्थी प्रायः सुलझ गई थी। म० बुद्धने स्पष्ट रीतिसे कहा था कि कोई भी मनुष्य जन्मसे ही नीच नहीं होता है बल्कि वह द्विजगण जो हिंसा करते नहीं हिचकते हैं और हृदयमें दया नहीं रखते हैं, वही नीच हैं[२]। 'वासेट्ठसुत्त' में जब ब्राह्मणोंसे वाद हुआ तब बुद्धने कहा कि "जन्मसे ब्राह्मण नहीं होता है, न अब्राह्मण होता है किंतु कर्मसे ब्राह्मण होता है और कर्मसे ही अब्राह्मण होता है।"[३] भगवान महावीरने अपने अनेकांत तत्वके रूपमें इस परिस्थितिको बिलकुल ही स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा कि जन्मसे भी ब्राह्मण आदि होता है और कर्मसे भी। आचरणपर ही उसका महत्व अवलंबित बतलाया। स्पष्ट कहा है कि:—

" संताणकमेणागय जीवयणरस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं नीचं चरणं उच्चं नीचं हवे गोदं॥"

॥ गोमट्टसार ॥

---

१ देखो 'बुद्धिस्ट इंडिया' पृष्ठ ५५-५९।
२ सुत्तनिपात (SBE) ११७।
३ सुत्तनिपात (SBE) १३५।

अर्थात्–संतान क्रमसे चले आये हुये जीवके आचरणकी गोत्र संज्ञा है। जिसका ऊंचा आचरण हो उसका उच्च गोत्र और जिसका नीच आचरण हो उसका नीच गोत्र है।" यह नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति नीच वर्णमें उत्पन्न हुआ है और वह सत्संगतिको पाकर अपने आचरणको सुधारकर उन्नत बना ले तो भी वह नीच बना रहे, प्रत्युत उसके उच्चाचरणी होने पर उसका गोत्र भी यथा समय उच्च हो जावेगा। भगवान महावीरके इस यथार्थ संदेशसे जनताको वास्तविक परिस्थितिका पता चल गया और वह आपसके अमानुषी व्यवहारको तिलाञ्जलि देकर प्रेमपूर्ण व्यवहार करने पर उतारु हो गई। आधुनिक विद्वान् भी इस अपूर्व घटनापर आश्चर्य प्रगट करते हैं, किन्तु सत्यके साम्राज्यमें ऐसी घटनाओंका घटित होना स्वाभाविक है।

इस तरह उस समयकी सामाजिक परिस्थिति भी इस समयसे विशेष उदार थी और थोथी ढकोसलेबाजीको उसमें स्थान शेष नहीं रहा था। भगवान पार्श्वनाथके दिव्योपदेशसे सामाजिक व्यव-

---

१ कवि सम्राट् सर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने स्पष्ट शब्दोंमें भगवान महावीरके इस दिव्य प्रभावका महत्व स्वीकार किया है। देखो "भगवान महावीर" पृष्ठ २७१।

२ भगवान पार्श्वनाथ, भगवान महावीरके पूर्वगामी और जैन धर्ममें माने हुए २४ तीर्थंकरोंमें २३वें थे। आधुनिक विद्वानोंने इनको ईसासे ८वीं–९वीं शताब्दिका ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार किया है। २२वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ इनसे बहुत पहले हुए थे। वे श्री कृष्णके समकालीन थे।

स्थामें हलचल खड़ी हो गई थी; क्योंकि भगवान नेमिनाथके दीर्घ अन्तराल कालमें ब्राह्मण संप्रदायका प्राबल्य अधिक बढ़ गया था और विप्रगण अपने स्वार्थमय उद्देश्योंकी पूर्तिमें मनुष्य समाजके प्रारंभिक स्वत्वोंको अपहरण कर चुके थे। इस दशामें जब भगवान पार्श्वनाथने जनताको वस्तुस्थिति बतलाई तो उसके कान खड़े हो गये, और उसमेंसे प्रभावशाली व्यक्ति अगाड़ी आकर ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित सामायिक व्यवस्थाके विरुद्ध लोगोंको उपदेश देने लगे। फलतः एक सामाजिक क्रांतिसी उपस्थित हुई। जिसका शमन म० बुद्ध और फिर पूर्णतः भगवान महावीरके अपूर्व उपदेशसे हुआ। जिन सुधारोंकी आवश्यक्ता थी, वह सुगमतासे पूर्ण हुए और मनुष्योंमें आपसी भेद अधिक बढ़ रहे थे उनका अन्त हुआ। तत्कालीन जैन और बौद्ध विवरणोंको ध्यान पूर्वक पढ़नेसे यही परिस्थिति प्रति भाषित होती है। सचमुच इस समय भी आर्यत्वकी रक्षाके लिये भगवान महावीरके दिव्य संदेशको दिगन्तव्यापी बनानेकी आवश्यक्ता है। मनुष्य समाज उससे विशेष लाभ उठा सक्ता है।

जिस तरह हम सामाजिक परिस्थितिके सम्बन्धमें देखते हैं कि उस समय उसमें एक क्रान्तिसी उपस्थित थी; ठीक यही दशा धार्मिक वातावरणमें होरही थी। सर्वत्र अशान्तिका साम्राज्य था। ईसासे पूर्व आठवीं शताब्दिमें भगवान पार्श्वनाथने जो उपदेश दिया उसका जो प्रभावकारी फल हुआ उसका दिग्दर्शन हम ऊपर कर चुके हैं। सचमुच लोगोंको राज्यनैतिक और सामाजिक स्वतंत्रताके उस समृद्धशाली जमानेमें अपने असली स्वाधीनता—आत्मस्वातंत्र्यको प्राप्त करनेकी धुन सवार होगई थी और वह प्रचलित

थोथे क्रियाकाण्डोंको हेय दृष्टिसे देखने लगे थे। इस दशामें उस समय धार्मिक वातावरणमें दो विभाग स्पष्टतः नजर आते थे। एक तो प्राचीन क्रियायों और यज्ञ रीतियोंका कायल ब्राह्मण वर्ग था और दूसरा नवीन सुधारको समक्ष लानेवाला 'समण' (श्रमण) दल था।[1] यह द्वितीय दल अनेक प्रतिशाखाओंमें विस्तृत मिलता था। जैन शास्त्र इनकी संख्या तीन सौ त्रेसठ बतलाते हैं,[2] परन्तु बौद्ध सिर्फ त्रेसठ ही[3], इस मतभेदका निष्कर्ष यही प्रतीत होता है कि उस समय अनेक विविध पंथ प्रचलित थे। सामाजिक क्रांतिके दौरदौरेमें जो कोई भी ब्राह्मणके विरुद्ध कितने भी लचर सिद्धांतोंको लेकर खड़ा हो जाता था, उसीको लोग अपनाने लगते थे। विशेषकर क्षत्रिय वर्ण ऐसे विरोधकोंका सहायक बन रहा था और वह उनके लिये मंदिर, आराम आदि भी बनवा देता था।[4]

प्रथम ब्राह्मण वर्ग विशेषकर यज्ञ क्रियाओं और पशु बलिदानको मुख्यता देता था और उनमें जो विशेष उन्नति किए हुए परिव्राजक लोग थे, जिनकी उपनिषद् आदि रचनायें प्रसिद्ध हैं, वह ज्ञान और ध्यानको ही आत्मस्वातंत्र्यके लिये आवश्यक समझते थे।[5] ऋषिगण भगवान पार्श्वनाथके पहिलेसे ही बलिदान

१ सुत्तनिपात (S. B. E. Intro) XII.

२ अंगपण्णत्ति गाथा नं० ७३।

३ सुत्तनिपात (S. B. E.) ५३८।

४ सान्डर्स गौतमबुद्ध पृष्ठ १७।

५ सांख्यसूत्र २१-२४; न्यायसूत्र १-१-१, और वैशेषिकसूत्र १-१-४।

पोषक विप्रोंके साथ २ चले आरहे थे। अन्ततः भगवान पार्श्वनाथके उपदेशको सुनकर इनमेंसे भी ऋषिगण अलग होकर अपनी स्वतंत्र आम्नाय "आजीवक" नामक बना चुके थे[१]। इनकी गणना दूसरे दलमें की जाती है। यह दूसरा दल ज्ञान और ध्यानके साथ २ चारित्रको विशेष आदर देता था[२]। इसकी मान्यता थी कि बिना चारित्रके मनुष्य आत्मोन्नति कर ही नहीं सक्ता है। इस दलके प्रख्यात प्रवर्तकोंकी संख्या म० बुद्धने अपने सिवाय छह बतलाई है। इनको वह 'तित्थिय' कहते थे। इनके नाम इस तरह बताये गये हैं (१) पूर्णकाश्यप (२) मस्करि गोशालिपुत्र (मक्खलि गोशाल) (३) संजयवैरत्थी पुत्र (४) अजितकेशकम्बलि (५) पकुढकात्यायन और (६) निगन्थनातपुत्त (महावीर)[३]। और यह प्रत्येक अपने२ "संघके नेता, गणाचार्य, तीर्थंकर, तत्ववेत्तारूपमें विशेष प्रख्यात्, मनुष्यों द्वारा पूज्य अनुभवशील और दीर्घ आयुके समन (श्रमण)"[४] बतलाये गए हैं। इनमें म० बुद्ध और भगवान महावीर विशेष प्रख्यात् हैं। अतएव इनके विषयमें खासी तौरपर परिचय पानेका प्रयत्न निम्नके पृष्ठोंमें किया जायगा, परन्तु शेषके पांच मतप्रवर्तकोंके विषयमें भी यहांपर किंचित ज्ञान प्राप्त कर लेना बुरा नहीं है।

पहले पूर्णकाश्यपके विषयमें बतलाया गया है कि वह नग्न श्रमण था[५]। नग्न श्रमण वह कैसे हुआ इसके लिये एक अटपटी

१ मेरा "भगवान महावीर" पृष्ठ १७७-१७९।
२ जैसे म० बुद्धका 'मध्यमार्ग' (महावग्ग १-६) और जैनियोंका 'मोक्षमार्ग (तत्वार्थसूत्र १-१)
३ दिव्यावदान् पृ० १४३। ४ दीघनिकाय प्रथम भाग पृष्ठ ४७-४९।
५ मेरा "भगवान महावीर" पृ० १८४।

कथा मिलती है; जिस पर विश्वास करनेको जी नहीं चाहता। वस्तुतः उस कालमें नग्नत्व साधुपनेका एक चिह्न माना जाने लगा था, जैसे हम अगाड़ी देखेंगे; परन्तु यहांपर इससे यह स्पष्ट है कि इस समय जो नग्न श्रमण जैसे पूर्णकाश्यप, मक्खलि गोशाल आदि मिलते थे वह नग्नभेष इसी जनमान्यताके अनुसार ग्रहण किये हुये थे। बौद्धग्रन्थमें पूरणके विषयमें यही कहा गया है कि पूरणने वस्त्र ग्रहण करनेसे इसीलिए इन्कार कर दिया था कि नग्न दशामें उसकी मान्यता विशेष होगी। अस्तु; ("Purana Kassapa declined accepting clothes thinking that as a Digambara he would be better respected." Ind. Ant: Vol. IX. P. 162). पूर्णकाश्यप एवं अन्य चारों मत-प्रवर्तक भगवान महावीर और म० बुद्धसे आयुमें बड़े थे।[1] और वह अपनेको तीर्थंकर कहते थे, उसका कारण शायद यह था कि भगवान पार्श्वनाथके उपरांत एक तीर्थङ्करका जन्म लेना और अवशेष था इसलिये यह लोग अपनेको ही तीर्थङ्कर प्रकट करने लगे थे।[2] इन नामधारी तीर्थङ्करोंमें केवल निग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) को छोड़कर शेष सबका तीव्र खण्डन बौद्ध ग्रन्थोंमें किया गया है।[3] वहां पूर्णकाश्यपकी मान्यताओंका उल्लेख हमें यह मिलता है कि "मनुष्य जो कार्य स्वयं करता है अथवा दूसरेसे करवाता है, वह उसकी आत्मा नहीं करती है और न करवाती है। (इदम् अकार्युं अप्पा)।" इस अपेक्षा जैन और बौद्ध दोनोंने इसके मतकी गणना[4]

१ हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृ० २९-३०।
२ देखो हमारा 'भगवान महावीर' पृष्ठ ९८५।
३ हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृष्ठ २७-२८। ४ सूत्रकृताङ्ग १-१-१३

'अक्रियावाद'में की है[1]। यद्यपि दिगम्बर शास्त्र 'दर्शनसार' में मस्करि गोशालि पुत्र (मक्खलिगोशाल) और पूर्णकाश्यपको एक व्यक्ति मानकर इनके मतकी गणना 'अज्ञानवाद'में की है।[2] इस मतभेदका कारण अन्यत्र देखना चाहिये। पूर्णकाश्यपकी इसप्रकार आत्माके निष्क्रियपनेकी मान्यताका आधार ब्राह्मण ऋषि भारद्वान और नचिकेतोंके सिद्धान्तमें ख्याल किया जाता है; यद्यपि श्वे० टिकाकार शीलाङ्क काश्यपके सिद्धान्तोंकी सादृश्यता सांख्यमतसे बतलाता है। (देखो प्री० बुद्धिस्टक इन्डियन फिलासफी पृष्ठ २७९) परन्तु यदि हम भगवान पार्श्वनाथके उपदेश पर दृष्टि डालें तो हम जान जाते हैं कि काश्यपने भगवान पार्श्वनाथकी निश्चयनयका महत्व भुलाकर केवल एक पक्ष केवल अपने मतकी पुष्टी की थी। निश्चयनयकी अपेक्षा मूलमें आत्मा सब सांसारिक क्रियायोंसे विलग है; यही भगवान पार्श्वनाथका उपदेश था। अतएव काश्यप पर उन्हींके उपदेशका प्रभाव पड़ना चाहिए।

इसके बाद दूसरे मतप्रवर्तक मक्खलिगोशाल थे। यह भी नग्न रहते थे। यह पहले भगवान पार्श्वनाथकी शिष्यपरंपराके एक मुनि थे; परन्तु जिस समय भगवान महावीरके समवशरणमें इनकी नियुक्ति गणधरपद पर नहीं हुई तो यह रुष्ट होकर श्रावस्तीमें आकर आजीवकोंके सम्प्रदायके नेता बन गये और अपनेको तीर्थ-

---

१ हिस्टॉरिकल ग्लीनिन्ग्स पृष्ठ ३६।

२ इसका क्या कारण है; इसके लिए हमारा लेख "वीर" वर्ष ३ के 'जयंती अंक' और 'दिगम्बर जैन' के वीर नि० सं० २४५२ के विशेषांकमें देखना चाहिये।

कर बतलाकर यह उपदेश देने लगे कि ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता, अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। इसलिए स्वेच्छापूर्वक शून्यका ध्यान करना चाहिये। 'भावसंग्रह' नामक प्राचीन दि० जैन ग्रन्थमें इसके विषयमें यही कहागया है, परन्तु यहां पर किसी कारणवश मस्करि और पूरणका उल्लेख एक साथ किया है,[१] यथाः—

"मसयरि–पूरणारिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीर समवशरणे अगहियझुणिणा नियत्तेण ॥१७६॥
बहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसांगधारिस्स।
णिग्गइ झुणी ण, अरुहो णिग्गय विस्सास सीसस्स॥१७७॥
ण मुणइ जिणकहिय सुयं संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥१७८॥
अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु।
देवो अणत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥ १७९ ॥

इसके अतिरिक्त 'दर्शनसार' और 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में भी मक्खलिगोशालकी अज्ञानमतमें गणना की है। बौद्धोंके समन्न फलसुत्तमें भी गोशालकी इस मान्यताका उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि 'अज्ञानी और ज्ञानवान संसारमें भ्रमण करते हुए समान रीतिसे दुःखका अन्त करते हैं' (सन्धावित्वा संसरित्वा दुःखस्सा-

---

१ इस सबके लिये उक्त लेख और हमारी पुस्तक 'भगवान महावीर' में 'मक्खलिगोशाल और पूरण काश्यप' शीर्षक परिच्छेद देखना चाहिये।

न्तम् करिस्सन्ति)।[1] पाताञ्जलिने भी अपने पाणनिसूत्रके भाष्यमें गोशालके सम्बन्धमें कुछ ऐसा ही सिद्धांन्त निर्दिष्ट किया है। वहां लिखा है कि वह 'मस्करि' केवल बांसकी छड़ी हाथमें लेनेके कारण नहीं कहलाता था; प्रत्युत इसलिए कि वह कहता था--" कर्म मत करो, कर्म मत करो, केवल शान्ति ही वाञ्छनीय है।" (मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि इत्यादि)[2]। 'इसतरह मक्खलिगोशालकी मान्यता थी, परन्तु अन्तमें भगवान महावीरके दिव्य उपदेशके धवल प्रकाशमें मक्खलिगोशालका महत्व जाता रहा और वह एक पागलकी भांति मृत्युको प्राप्त हुआ। श्वेताम्बर शास्त्रोंमें इसे भगवान महावीरका शिष्य बतलाया है;[5] परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि भगवान महावीर छद्मस्थ अवस्थामें उपदेश देने अथवा बोल्ते नहीं थे, यह स्वयं श्वेताम्बर शास्त्र प्रकट करते हैं[6]। ऐसी दशामें उस अवस्थामें गोशालका भगवानका शिष्य होना असंगत है।

श्वे० के इस मिथ्या कथनके आधारसे लोगोंका ख्याल है कि महावीरजीने गोशालसे बहुत कुछ सीखा था और वह नग्न इसीके देखादेखी हुये थे; परंतु ऐसी व्याख्यायें निरी निर्मूल हैं, यह हम अन्यत्र बता चुके हैं। (वीर वर्ष ३ अंक १२-१३) स्वयं श्वे० ग्रन्थ भगवतीसूत्रमें कहा गया है कि जब गोशाल महावीरजीसे मिला था तब वह वस्त्र पहने हुए था और जब

१ हिस्टॉरीकल ग्लीनिन्ग्स पृष्ठ ३९। २ आजीविकस प्रथम भाग पृष्ठ १२। ३ हमारा ' भगवान महावीर ' पृष्ठ १७९। ४ दी हार्ट ऑफ जैनीज्म पृष्ठ ६०। ५ भगवतीसूत्र १५। ६ आचारांगसूत्र (S. B. E) पृष्ठ ८०-८७

महावीरजीने उसे शिष्य बनाया तब उसने वस्त्रादि उतारकर फेंक दिये थे। (देखो उपाशकदशासुत्र Biblo. Ind. का परिशिष्ट) इस दशामें महावीरजी पर गोशालका प्रभाव पड़ा ख्याल करना कोरा ख्याल ही है।

तीसरे संजयवैरत्थीपुत्रको बौद्धशास्त्रोंमें मोग्गलान (मौद्गलायन) और सारीपुत्तका गुरु बतलाया गया है[1]। उपरान्त संजयके यह दोनों शिष्य बौद्धधर्ममें दीक्षित होगये थे। मौद्गलायनके विषयमें हमें श्री अमितगति आचार्यके निम्न श्लोकसे विदित होता है कि वह पहिले जैन मुनि था:—

"रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्॥ ६॥
शुद्धोदनसुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत्।"

अर्थात्—"पार्श्वनाथकी शिष्यपरम्परामें मौडिलायन नामका तपस्वी था। उसने महावीर भगवान्से रुष्ट होकर बुद्धदर्शनको चलाया और शुद्धोदनके पुत्र बुद्धको परमात्मा कहा।" श्लोकके इस कथनपर शायद कतिपय पाठक ऐतराज करें; क्योंकि बौद्धदर्शनके संस्थापक तो स्वयं म० बुद्ध थे, परन्तु बौद्ध शास्त्रोंमें मौडिलायन (मौद्गलायन) और सारीपुत्त विशेष प्रख्यात् थे और वे बौद्धधर्मके उत्कट प्रचारक थे, ऐसा लेख है[2]। इस अपेक्षा यदि मौद्गलायनको ही बौद्धदर्शनका प्रवर्तक बतलाया गया है, तो कुछ अत्युक्ति नहीं है। स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंमें भी भगवान महावीरके सम्बन्धमें ऐसी ही गल्ती कीगई है। उनमें एक स्थान पर उनका उल्लेख 'अग्गिवेसन'

१ महावग्ग १।२३–२४। २ हिस्टॉरीकलग्लीनिंग्स पृष्ठ ४५।

(अग्निवैश्यायन)के नामसे किया है, परन्तु हम जानते हैं कि भगवान महावीरका गोत्र काश्यप था और उनके गणधर सुधर्मास्वामीका अग्निवैश्यायन गोत्र था[1]। इस तरह महावीरजीके शिष्यकी गोत्र अपेक्षा उनका उल्लेख करके बौद्धाचार्यने भी जैनाचार्योंकी भांति गल्ती की है। अतएव इसमें संशय नहीं कि मौद्गलायन भगवान पार्श्वनाथकी शिष्यपरंपराका एक जैनमुनि था। जैनग्रन्थोंमें इनके गुरुका नाम नहीं दिया गया है; परन्तु बौद्धशास्त्र इनके गुरूका नाम संजय अथवा संजयवैरत्थीपुत्र* बतलाते हैं। जैनशास्त्रोंमें भी हमें इस नामके एक जैन मुनिका अस्तित्व उस समय मिलता है। यह चारणऋद्धिधारी मुनि थे और इनको कतिपय शङ्कायें थीं जो भगवान महावीरके दर्शन करते ही दूर होगई थीं[2]। श्वेताम्बरोंके उत्तराध्ययन सूत्रमें भी एक संजय नामक जैन मुनिका उल्लेख है[3]। ऐसी अवस्थामें जैन मुनि मौद्गलायनके गुरू संजयका जैनमुनि होना बिल्कुल संभव है और यह संभवतः चारणऋद्धिधारी मुनि संजय ही थे। इसकी पुष्टि दो तरहसे होती है। पहिले तो संजयकी शिक्षायें जो बौद्धशास्त्रोंमें अंकित हैं वह जैनियोंके स्याद्वाद सिद्धा-

१ जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ XXI.

* बौद्ध शास्त्रोंमें संजय वेरत्थिपुत्र और संजय परिव्राजक नामक दो व्यक्तियोंका उल्लेख मिलता है। विद्वानोंको संशय है कि यह दोनों एक व्यक्ति थे। किन्तु महावस्तु (III P. 59) में इन दोनों व्यक्तियोंको एक ही बतलाया है। अतएव यहां परिव्राजकके अर्थ साधारण विचरते हुए भिक्षुके समझना चाहिये। इसी भावमें यह शब्द पहले व्यवहृत होता था। देखो हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृष्ठ ९

२ महावीर चरित्र पृष्ठ २५५। ३ उत्तराध्ययन (S. B. E.) पृष्ठ ८२।

न्तकी विकृत रूपान्तर ही हैं[1]। इससे इस बातका[2] समर्थन होता है कि स्याद्वादसिद्धान्त भगवान महावीरसे पहिलेका है, जैसे कि जैनियोंकी मान्यता है; और उसको संजयने पार्श्वनाथकी शिष्य परंपराके किसी मुनिसे सीखा था, परन्तु वह उसको ठीक तौरसे न समझ सका और विकृत रूपमें ही उसकी घोषणा करता रहा। जैनशास्त्र भी अव्यक्त रूपमें इसी बातका उल्लेख करते हैं; अर्थात् वह कहते हैं कि संजयको शङ्कायें थीं जो भगवान महावीरके दर्शन करनेसे दूर होगईं! यदि यह बात इस तरह नहीं थी तो फिर भगवान महावीर और म० बुद्धके समयमें इतने प्रख्यात मतप्रवर्तकका क्या हुआ, यह क्यों नहीं विदित होता? इसलिए हम जैन मान्यताको विश्वसनीय पाते हैं और देखते हैं कि संजय वैरत्थी पुत्र, जो मोग्गलान (मोद्गलायन) के गुरू थे वह जैन मुनि संजय ही थे। दूसरी ओर इस व्याख्याकी पुष्टि इस तरह भी होती है कि इन संजयकी शिक्षाकी सादृश्यता यूनानी तत्ववेत्ता पैर्रहोकी शिक्षाओंसे बतलाई गई है[2]। एक तरहसे दोनोंमें समानता है और इस पैर्रहोने जैम्नोसूफिट्स सूफियोंसे, जो ईसासे पूर्वकी चौथी शताब्दिमें यूनानी लोगोंको भारतके उत्तर पश्चिमीय भागमें मिले थे, यह शिक्षा ग्रहणकी थी[3]। यह जैम्नोसुफिट्स तत्ववेत्ता निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओंके अतिरिक्त और कोई नहीं थे[4]। यूनानियोंने इन जैन साधुओंका नाम 'जैम्नोसूफिट्स' रक्खा था, अतएव जैन साधुओंसे शिक्षा पाये हुये

१ 'समन्नफलसुत्त' 'डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध' (S. B. B. Vel II.)

२ हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृष्ठ ४२।

३ हिस्टॉरीकलग्लीनिंग्स पृष्ठ ४२। ४ इन्साइक्लोपेडिया ब्रेटेनिका भाग २५।

यूनानी तत्ववेत्ता पैर्रहो की शिक्षाओंसे उक्त संजयकी शिक्षाओंका सामञ्जस्य बैठ जाना, हमारी उक्त व्याख्याकी पुष्टिमें एक और स्पष्ट प्रमाण है। इस तरह यह तीसरे प्रख्यात मतप्रवर्तक जैन मुनि थे इसमें संशय नहीं है, अतएव इनकी गणना 'अज्ञानमत'में नहीं होसक्ती और न यह कहा जा सक्ता है कि इनकी शिक्षाओंका संस्कृतरूप भगवान महावीरका स्याद्वाद सिद्धान्त है; जैसे कि कतिपय विद्वान् खयाल करते हैं[१]।

चौथे मत प्रवर्तक अजित केशकम्बलि थे। यह वैदिक क्रियाकाण्डके कट्टर विरोधी थे और पुनर्जन्म सिद्धान्तको अस्वीकार करते थे। इनका मत था कि लोक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुका समुदाय है और आत्मा पुद्गलके कीमयाई ढंगका परिणाम है। इन चारों चीजोंके विघटते ही वह भी विघट जाता है। इसलिए वह कहता था कि जीव और शरीर एक हैं ("तम् जीवो तम् सरीरमं") और प्राणियोंकी हिंसा करना दुष्कर्म नहीं है[३]। इसकी इस शिक्षामें भी जैन सिद्धान्तके व्यवहारनय अपेक्षा आत्मा और पुद्गलके संमिश्रणका विकृतरूप नजर आता है। भगवान पार्श्वनाथने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था ही; उसहीके आधार पर अजितने अपने इस सिद्धांतका नि[illegible] किया, [illegible]सके अनुसार हिंसा करना भी बुरा नहीं था। वि[illegible] लोग अजितको ही भारतमें केवल पुद्गलवादका आदि प्रचारक [illegible] ख्याल करते हैं। चार्वाक मतकी सृष्टि

१ जैनसूत्र (S. B. [illegible]) भूमिका XXVII.

२ हिस्टॉरीकलग्लीनिंग्स पृष्ठ ३५।

३ जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ भूमिका XXIII.

२८८

अजितके सिद्धान्तोंके बल हुई हो तो आश्चर्य नहीं ! (देखो प्री० बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृष्ट २८८)।

पांचवें मतप्रवर्तक पकुडकात्यायन थे। 'प्रश्नोपनिषद' में इनको ब्राह्मण ऋषि पिप्पलादका समकालीन बतलाया गया है और यह ब्राह्मण थे।* इनकी मान्यता थी कि 'असत्तामेंसे कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और जो है उसका नाश नहीं होता।' (सतो नत्थि विनसो, असतो नत्थि सम्भवो। सूत्रकृताङ्ग २-१-२२) इस अनुरूपमें इनने सात सनातन तत्व बतलाये; यथा: (१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) सुख, (६) दुःख और (७) आत्मा; इन्हीं सातके सम्मिलन और विच्छेदसे जीवन व्यवहार है। सम्मिलन सुखतत्वसे होता है और विच्छेद दुखतत्वसे[1]। इस कारण इनका परस्पर एक दूसरे पर कुछ प्रभाव है नहीं, जिससे किसी व्यक्तिको खास नुक्सान पहुंचाना भी मुश्किल है।[2] पकुडकी प्रथम मान्यता सांख्य, वैशेषिक, वेदांत, उपनिषध, जैन और बौद्धोंके अनुरूप है। यद्यपि अंतिम कुछ अटपटे ही ढंगका विवेचन है। यह शीत जलमें जीव होना भी मानते थे।[3]

इन मत प्रवर्तकोंमें हम इस बातका खास उद्देश्य देखते हैं कि वह पुण्य-पापको मेटकर हिंसावादकी पुष्टि करते हैं। म० बुद्धने भी मृतपशुओंके मांस खानेका निषेध नहीं किया, जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। अस्तु, इससे जैनधर्मका इनसे पहिले अस्तित्व प्रमा-

* प्री० बुद्धिस्टिक इन्डियन फिलासफी पृष्ठ २८१। १ जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ भूमिका XXIV. २ हिस्टॉरीकलग्लीनिंग्स पृष्ठ १४। ३ जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ भूमिका XXIV.

णित होता है; अर्थात् भगवान पार्श्वनाथकी शिष्यपरम्पराके ऋषि-गण भी इस समय मौजूद थे और उन्होंने जो अहिंसामई स्याद्वाद-कर संयुक्त धर्म प्रतिपादन किया था उससे लोग भड़क गये थे; परन्तु वे सहसा अपनी मांसलिप्साका मोह नहीं त्याग सके थे। इसी कारण उन्होंने भगवान पार्श्वनाथके उपदेशको विकृतरूप देकर अपनी जिह्वालम्पटताके उद्देश्यकी सिद्धि की थी* यहां तक कि ऐसे तापस

* सचमुच जैनधर्मके दिव्य उपदेशसे प्रभावित हो यह मतप्रवर्तक भगवान महावीरके पहिलेसे विकृतरूपमें अपने मनोनुकूल धर्मका प्रचार कर रहे थे; इसका स्पष्ट समर्थन आधुनिक विद्वान भी करते दृष्ट पड़ते हैं। स्व० जेम्स डेऽल्विस साहबके लेखसे स्पष्ट है कि 'दिगम्बर' एक प्राचीन संप्रदाय समझा जाता था और उपरोक्तलिखित मतप्रवर्तकोंके सिद्धान्तोंपर जैनधर्मका प्रभाव पड़ा नजर पड़ता है। ("In James d' Alwis' paper (Ind. Anti: VIII.) on the six Tirthakas the "Digambaras" appear to have been regarded as an old order of ascetics and all of these heretical teachers betray the influence of Jainism in their doctrines." Ind. Ant. Vol. IX. P. 161). यही बात जैनदर्शनदिवाकर डॉ० हर्मन जैकोबी भी प्रकट करते मालूम पड़ते हैं यथाः—

" The preceding four Tirthakas appear all to have adopted some or other doctrines or practices, which makes part of the Jaina System, probably from the Jains themselves......It appears from the preceding remarks that Jaina ideas and practices must have been current at the time of Mahavira and independently of him.

भी मौजूद थे जो वर्षभरके लिए एक हाथीको मारकर रख छोड़ते थे[1] और उसी द्वारा उदरपूर्ति करते हुए साधु होनेकी हामी भरते थे।

सारांशतः यह प्रकट है कि उस समय धार्मिक प्रवृत्ति भी बड़ी ही नाजुक अवस्थामें हो रही थी। भगवान महावीर और म० बुद्धके समयमें उपरोक्त मत प्रवर्तकों द्वारा इसका सुधार नहीं हो पाया था। परिणामतः इस सामाजिक और धार्मिक क्रान्तिके अवसर पर म० बुद्धने परिस्थितिको बहुत कुछ सुधारा और फिर भगवान महावीरके दिव्योपदेशसे जनता यथार्थताको पागई और अपनी सुख समृद्धशाली दशामें सामाजिक उदारता और आत्मिक स्वाधीनताके सुख–स्वप्नमें लीन होगई। अतएव निम्नके पृष्ठोंमें हम तुलनात्मक रीतिसे म० बुद्ध और भगवान महावीरके जीवनों और उनके सिद्धान्तोंपर एकदृष्टि डालेंगे।



This Combined with other arguments, leads us to the opinion that the Nirgranthas were really in existence long before Mahavira, who was the reformer of the already existing sect." (Ind. Ant. Vol. IX. P. 162).

१ जैन सूत्र (सूत्रकृताङ्ग २–६–५२ S. B. E.) पृष्ठ ४१८।

(२)

भगवान महावीर और म० बुद्धका प्रारंभिक जीवन।

ईसासे पूर्वकी छठी शताब्दिके भारतमें जो क्रान्ति उपस्थित थी उसके शमन करनेके लिये ही मानो भगवान महावीर और म० बुद्धका शुभागमन हुआ था। यह दोनों ही महानुभाव इक्ष्वाक वंशीय क्षत्रियोंके गृहमें अवतीर्ण हुये थे।[1] यद्यपि दोनों ही युगप्रधान पुरुष हम आप जैसे मनुष्य थे; परन्तु अपने पूर्वभवोंमें विशेष पुण्य उपार्जन करनेके कारण उनके जीवन साधारण मनुष्योंसे कुछ अधिकता लिये हुये थे। यही बात बौद्ध और जैन ग्रन्थ प्रगट करते हैं। बौद्धशास्त्र कहते हैं कि जिस समय म० बुद्धका जन्म हुआ उस समय कतिपय अलौकिक घटनायें घटित हुई थीं और जब वे अपनी माताके गर्भमें आये थे तब उनकी माताने शुभ स्वप्न देखे थे।[2] भगवान महावीरके विषयमें भी कहा गया है कि जब वे अपनी माताके गर्भमें आये थे तब उनकी माताने सोलह शुभ स्वप्न देखे थे जिनके सांकेतिक अर्थसे एवं उस समय स्वर्गलोकके देवगणों द्वारा उत्सव मनानेसे यह ज्ञात होगया था कि अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीरका जन्म शीघ्र ही होगा। चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके रोज जब उनका जन्म हुआ तब दिशायें निर्मल होगई थीं, समुद्र स्तब्ध

---

१ बुद्ध जीवन (S. B. E. XIX) पृष्ट ५-१० और जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ १८९।

२ बुद्ध जीवन (S. B. E. XIX) पृष्ट ५-१०।

होगया था, पृथ्वी किंचित् हिल गई थी और सब जीवोंको क्षण-भरके लिए परम शांतिका अनुभव मिल गया था। इस समय भी एवं अन्य दीक्षा धारण, केवलज्ञान प्राप्ति और मोक्षलाभके अवसरोंपर भी देवगणोंने आकर उत्सव मनाये थे।[१]

म० बुद्धका पूर्ण नाम गौतमबुद्ध था और वह सिद्धार्थके नामसे भी ज्ञात थे, किन्तु उनकी प्रख्याति आजकल केवल म० बुद्धके नामसे होरही है; यद्यपि वस्तुतः यह उनका एक विशेषण ही है, जैसे भगवान महावीरको तीर्थंकर बतलाना। बौद्धधर्ममें बुद्ध शब्दका प्रयोग इसी तरह हुआ है जिस तरह 'तीर्थंकर' शब्दका व्यवहार जैनधर्ममें होता है। तथापि जिस तरह जैन शास्त्रोंमें भगवान महावीरके पूर्वभवोंका दिग्दर्शन कराया गया है इसी तरह म० गौतम बुद्धके भी पूर्वभवकी कथायें बौद्ध साहित्यमें "जातक कथाओं" के नामसे विख्यात हैं। म० बुद्धने भी तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि कितनी ही योनियोंमें जीवन व्यतीत करके अन्ततः देवयोनिसे चयकर राजा शुद्धोदनके यहां जन्म धारण किया था। कहा जाता है कि इस घटनासे बीस 'असंख्य–कप–लक्ष' अर्थात् बुद्ध होनेके 'मनोपरि-निदान' से अपने जन्मतक बुद्धने तीस 'पारिमिताओं' का पूर्ण पालन किया था; तब ही वह बुद्ध हुये थे। यह 'पारिमितायें' मूलमें दस हैं; परन्तु साधारण, उप और परमार्थके भेदसे वे ही तीस प्रकारकी हैं। बुद्ध पदको प्राप्त होनेके लिए उनका पालन कर लेना आवश्यक है। वे यह हैं, (१) दानपारिमिता–बौद्धोंके तीन प्रका-

१ उत्तरपुराण पृष्ठ ६०५–६१४ और जैनसूत्र (S. B. E.) भाग पृष्ठ २१७–२७०।

रका दान देना, * (२) शीलपारिमिता—बौद्ध व्रतोंका पालन करना, (३) नैसकर्मपारिमिता—संसारसे विरक्त होकर त्यागावस्थाका अभ्यास करना, (४) प्रज्ञापारिमिता—बुद्धिसे प्राप्त गुणोंको प्रगट करना, (५) वीर्यपारिमिता—दृढ़ वीरत्वको प्रगट करनेवाला साहस, (६) क्षान्ति पारिमिता—उत्कृष्ट प्रकारकी सहनशीलता, (७) सत्यपारिमिता—सत्य भाषण, (८) अदिष्टान पारिमिता—दृढ़ प्रतिज्ञाकी पूर्णता, (९) मैत्री पारिमिता—प्रेम और दयाका व्यवहार करना, (१०) और उपेक्षा पारिमिता—शत्रु मित्रपर समान भाव रखना। म० बुद्धने अपने पूर्वभवोंमें इनके अभ्यासमें कमाल हासिल कर लिया था, यह बात बौद्ध शास्त्रोंमें कही गई है। यह भी कहा गया है कि बुद्ध देवलोकमें अधिक नहीं ठहरते थे—वह अपने उद्देश्य प्राप्तिके लिए मनुष्य भवको ही बार २ प्राप्त करनेका प्रयत्न करते थे क्योंकि देवलोकमें रहकर वह अपने उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं कर सक्ते थे। जैनधर्ममें भी परमार्थ साधन और सर्वज्ञपद पानेके लिए मनुष्यभव लाज़मी बतलाया गया है। परन्तु वहां तीर्थङ्करपद पानेके लिए निदान बांधना आवश्यक नहीं है; जैसा कि गौतमबुद्धने बुद्धपद पानेके लिए अपने एक पूर्वभवमें किया था। निदान बांधना जैन धर्ममें एक निःकृष्ट क्रिया है; जबकि बौद्ध धर्ममें वह ऐसी नहीं मानी गई है। पारिमिताओंके

* नेत्र, मांस, रक्त आदि शरीर-अवयवोंका देना साधारण दान है। यह प्रथम प्रकारका दान बौद्ध धर्ममें बतलाया गया है। दूसरे प्रकारका दान संतान स्त्री, घोड़े, पशुधन, पृथिवी, हीरा, जवाहिरात आदिको देना है। यह पहिलेसे उत्तम है और तीसरा सर्वोत्तम दान प्राणोंकी परवा न करके शरीरको पशुओं या राक्षसोंको भक्षण करने देना है। (Manual of Buddhism. P. 102).

साथ २ बुद्ध पदको पानेके लिए निम्नके आठ गुण भी उस व्यक्तिमें होना आवश्यक हैं:—(१) वह मनुष्य होना चाहिये, न कि देव। इसी लिये बोधिसत् (बुद्धपद पानेका इच्छुक) दस शील—व्रतोंको पालन करते हैं कि उसके फल स्वरूप वह मनुष्यका जन्म धारण करें; (२) वह पुरुष होना चाहिये, न कि स्त्री;* (३) उनका पुण्य इतना प्रबल होना चाहिये, जिससे वे अर्हत् हो सकें; (४) वह अवसर भी उसको मिल चुका हो जिसमें उसने एक परमोत्कृष्ट बुद्धकी उपासना की हो और उनमें पूर्ण श्रद्धा रक्खी हो; (५) विरक्त—गृहत्याग अवस्थामें रहना आवश्यक है, (६) ध्यान आदि क्रियायोंके साधनसे प्राप्त फलका वह अधिकारी होना चाहिए, (७) उसे विश्वास होना चाहिए कि जिस बुद्धसे वह बातचीत (Communicates) करता है वह शोकसे परे है और वह स्वयं उस दशाको प्राप्त होगा, (८) और उसे बुद्ध पद प्राप्तिके निमित्त दृढ़ निश्चय करना चाहिए। इन आठ गुणोंको भी गौतमबुद्धने प्राप्त किया था। इसी कारण वह बुद्धपदके अधिकारी हुये थे। (Hardy's Manual of Buddhism. P. P. 101-106). अपने वेस्सन्तरभवसे वह देवलोकके तुसित विमानमें सन्तुतुसित नामक देव हुये थे। वहां वह बड़ी विभूति सहित ५७ कोटि ६० लाख वर्ष तक रहे थे, यह बौद्ध शास्त्र प्रगट करते हैं। इस अंतरालके अन्तमें जब देवोंने जाना कि एक बुद्धका जन्म होगा और

*दिगम्बर जैन शास्त्र भी तीर्थंकरपदके लिये पुरुषलिंग ही आवश्यक बतलाते हैं। हां, श्वेतांबर स्त्रियोंको भी इस पदका अधिकारी प्रगट करते हैं, परन्तु उनकी इस मान्यताका निषेध दि० शास्त्रोंमें उचित रीतिसे किया हुआ मिलता है। बौद्धोंकी उक्त मान्यता भी दि०मतकी पोषक है।

वह सन्तुतुसित हैं तो वे सब इनके पास जाकर बुद्धपदको धारण करनेके लिए कहने लगे। इसपर बुद्धने वहां 'पंच महाविलोकन' किये अर्थात् इन पांच बातोंको जाना कि (१) उस समय मनुष्यकी आयु १०० वर्षकी थी, जो बुद्धपदके लिए उपयुक्त काल था, (२) बुद्ध जम्बूद्वीपमें जन्म लेते हैं, (३) मध्य मण्डल अथवा मगधका प्रदेश उत्तम क्षेत्र है, × (४) उस समय क्षत्रिय वर्ण प्रधान था, इसलिए उसमें जन्म लेना उचित है, (५) और राजा शुद्धोदनकी रानी महामायाके मृत्यु दिवससे ३०७ दिन पहिले उनके गर्भमें उनको पहुंच जाना चाहिये। इस तरह इन पांच बातोंको जानकर उनने नियत समयमें राजा शुद्धोदनकी रानी महामायाके गर्भमें पदार्पण किया और फिर उनका जन्म हुआ, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

भगवान महावीरने तीर्थंकर पद प्राप्त करनेके लिए वैसा कोई निदान नहीं बांधा था जैसा कि म० बुद्धको करना पड़ा था। हां, यह अवश्य है कि जैनधर्ममें भी खास भावनायें और विशेष गुण तीर्थंकर पद प्राप्त करनेके लिए आवश्यक बतलाये गये हैं। इन खास भावनाओं और गुणोंके आराधनसे उस पुरुषके 'तीर्थंकर नामकर्म' नामक कर्मका बंध होता है, जिससे वह स्वभावतः उस परमपदको प्राप्त करता है। श्री तत्वार्थसूत्रजीमें इस सम्बन्धमें यही कहा गया है; यथाः—

× जैन शास्त्रोंमें भी तीर्थंकरोंकी जन्मभूमियां गंगा और जमुनाके मध्य प्रदेशमें ही बताई गई हैं, किन्तु उनका यह कथन है कि तीर्थंकर सदैव क्षत्रीय वंशोंमें ही जन्म लेते हैं।

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥२४–६॥"

अर्थात्–तीर्थंकर कर्मका आश्रव निम्न १६ भावनाओं द्वारा होता है:–

(१) दर्शनविशुद्धि–सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता, (२) विनयसम्पन्नता–मुक्तिप्राप्तिके साधनों अर्थात् रत्नत्रय मार्गके प्रति विनय और उनके प्रति भी जो उनका अभ्यास कर रहे हैं, (३) शीलव्रतेष्वनतिचार–अतीचार रहित पांचव्रतोंका पालन और कषायोंका पूर्ण दमन, (४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग–सम्यग्ज्ञानकी संलग्नतामें–स्वाध्यायमें अविरत प्रयास, (५) संवेग–संसारमे विरक्तता और धर्मसे प्रेम, (६) शक्तितस्त्याग–अपनी शक्ति अनुसार त्याग भावका अभ्यास, (७) शक्तितस्तपः–अपनी शक्ति परिमाण तपका पालन करना, (८) साधु समाधिः–साधुओंकी सेवा–सुश्रूषा और रक्षा करना, (९) वैयावृत्यकरण–सर्व प्राणियोंकी खासकर धर्मात्मा पुरुषोंकी वैयावृत्य करना, (१०) अर्हद्भक्ति–अर्हंत भगवानकी भक्ति करना, (११) आचार्यभक्ति–आचार्य परमेष्ठीकी उपासना करना, (१२) बहुश्रुतभक्ति–उपाध्याय परमेष्ठीकी भक्ति करना, (१३) प्रवचनभक्ति-शास्त्रोंकी विनय करना, (१४) आवश्यका परिहाणि–अपने षडावश्यकोंके पालनमें शिथिल न होना, (१५) मार्गप्रभावना–मोक्षमार्ग अर्थात् जैनधर्मका प्रकाश करना और (१६) प्रवचनवत्सलत्व–मोक्षमार्गरत साधर्मी भाइयोंके प्रति वात्सल्यभाव रखना,

इनका पूर्ण ध्यान ही तीर्थंकरपद प्राप्त करनेमें मूल कारण है। तथापि उनका पुरुष होना, क्षत्रियकुलमें जन्म धारण करना, जन्मसे ही तीन ज्ञान और मलमूत्रादि रहित शरीर धारण किए हुए होना, माता पिता अथवा किसी अन्य व्यक्तिको नमस्कार न करना,* आदि विशेषण भी होते हैं। भगवान महावीरने अपने पूर्व भवोंमें उक्त भावनाओंका पालन समुचित रीतिसे किया था; जिसके फलस्वरूप वे राजा सिद्धार्थके गृहमें तीर्थंकर पदपर आरूढ होनेके लिये जन्मे थे। अपने सिंहके भवसे वे देवलोकके पुष्पोत्तर विमानमें अपूर्व सम्पत्तिके धारक देव हुए थे। वहांके भोग भोगकर वे राजा सिद्धार्थकी रानी त्रिशलाकी कोखमें आए थे और फिर उनका सुखकारी जन्म हुआ था। तीनों लोक इस कल्याणकारी जन्मावतारसे मुदित होगये थे।

म० बुद्धके पिताका नाम शुद्धोदन था और वह उस समय शाक्य गणराजके प्रमुख राजा थे। इनकी राजधानी कपिलवस्तु थी। म० बुद्धका जन्म यहीं वैशाख शुक्ला २ को हुआ था;[1] किन्तु

---

*म० बुद्धके विषयमें भी कहा गया है कि वह किसी भी व्यक्तिको नमस्कार नहीं करते थे। बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि यदि बुद्ध किसीको नमस्कार करें तो उस व्यक्तिके मस्तकके सात टुकड़े होजावें। इसीलिए म० बुद्धके जन्मसमय उनके चरणोंको असित नामक साधुने और उनकी देखादेखी बुद्धके पिता शुद्धोदनने अपने मस्तकसे लगाया था। (See Hardy's Manual of Buddhism. P. 147). इससे पितृभक्तिकी अवज्ञा होती ख्याल करना निरा भ्रम है। भाव इन युगप्रधान पुरुषोंकी चारित्रविशिष्टता स्पष्ट करनेका है। वैसे हमें मालूम है कि भगवान महावीर अपने माता-पिताको हर तरह प्रसन्न रखते थे और उनसे पूंछकर ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी।

१ बुद्धजीवन (S. B. E. XIX) पृष्ठ १०

अभाग्यवश इनके जन्मते ही इनकी माताके प्राणपखेरू इस नश्वर शरीरको छोड़कर चल बसे थे। इनका लालन-पालन इनकी विमाताने किया था। इनके जन्म होनेपर एक अजित नामक ऋषिने आकर राजा शुद्धोदनको बतलाया था कि उनका पुत्र गौतम राज्य सामग्रीका उपभोग नहीं करेगा, प्रत्युत वह युवावस्थामें ही गृह त्यागके एक नवीन धर्मका नींवारोपण करेगा।[1] पितृगण इस समाचारको सुनकर जरा खेदितचित्त हुये थे; परन्तु वे खूब लाड़चावसे पुत्रका पालन पोषण करने लगे। अपने पुत्रके निकट कोई भी ऐसा कारण उपस्थित नहीं होने देते थे जिससे उसके कोमल चित्तपर संसारकी नश्वरताका चित्र खिंच जावे। म० बुद्ध भी दिनोंदिन हाथोहाथ बढ़ने लगे।

दूसरी ओर भगवान महावीरके पिताका नाम नृपसिद्धार्थ था और भगवानकी माता त्रिशला प्रियकारिणी वैशालीके वज्जियन राजसंघके प्रमुख राजा चेटककी पुत्री थीं। नृपसिद्धार्थके विषयमें यह कहा जाता है कि वे नाथ (ज्ञात्रि) वंशीय क्षत्रियोंकी ओरसे वज्जियन राजसंघमें सम्मिलित थे।[2] इन ज्ञात्रवंशी क्षत्रियोंकी मुख्य राजधानी कुण्डनगर थी, जो वैशालीके निकट अवस्थित थी। नृपसिद्धार्थ स्वयं नाथवंशीय (ज्ञात्रिवंशीय) काश्यपगोत्री क्षत्री थे।[3] भगवान् महावीर अपने इस क्षत्रियवंश-ज्ञात्रि अथवा नाथवंशके कारण ही बौद्ध ग्रन्थोंमें निगन्थ नातपुत्तके नामसे उल्लिखित हुये हैं। भगवानका सुखकारी जन्म इन्हीं प्रख्यात् दम्पतिके यहां कुण्डनगरमें हुआ था।

---

१ पूर्व पृष्ठ ११-१२...। २ साउथ इन्डियन जैनीज्म पृ० १३।
३ उत्तरपुराण पृष्ठ ६०५

इनके जन्मसे पितृगणको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ था और उनके राज्यमें विशेष रीतिसे हर बातमें वृद्धि होते नजर आई थी; इसलिये उन्होंने भगवानका नाम 'वर्द्धमान्' रक्खा था।[1] उपरान्त जब सौ धर्मेन्द्रने भगवानके जन्मोत्सवपर उनकी संस्तुतिकी तो उनका नाम 'महावीर' रक्खा।[2] इसी समय भगवानके जन्म सम्बन्धी शुभ समाचार सुनकर संजय नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, एक अन्य विजय नामक मुनिके साथ भगवानके दर्शन करने आये थे, और उनके दिव्यरूपके दर्शनसे उनकी शङ्काओंका समाधान होगया था इसलिये उन्होंने भगवानका नाम 'सन्मति' रक्खा था।[3] भगवानका इस प्रकार जन्म होगया और वह देव देवियोंकी संरक्षतामें दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त होने लगे।

म० बुद्धके पिता राजा शुद्धोदन किस धर्मके उपासक थे, यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं है। किन्तु बौद्ध ग्रन्थोंमें इन्हें पूर्वके बुद्धोंका उपासक बतलाया है।[4] यह पूर्वबुद्ध कौन थे, यह अभीतक पूर्णतः प्रमाणित नहीं हुआ है, क्योंकि म० बुद्धके पहिले बौद्ध धर्मका अस्तित्व किसी तरह भी सिद्ध नहीं होता। बौद्ध शास्त्रोंमें इन बुद्धोंकी संख्या २४ बताई है। जैनधर्ममें भी 'बुद्ध' विशेषण तीर्थङ्कर भगवानके लिये व्यवहृत हुआ मिलता है; ऐसी दशामें संभव है कि २४ बुद्ध जैनधर्ममें स्वीकृत जैन तीर्थंकर हों और राजा

---

१ जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृ० १९२। २ जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृ० १९३ किंतु दि० उत्तरपुराणमें लिखा है कि यह नाम उस देवने रक्खा था जो भगवानके पौरुषकी परीक्षा लेने आया था। ३ अशग कविकृत 'महावीर चरित्र' पृ० २५५। ४ बुद्ध-जीवन (S. B. E. XIX)

शुद्धोदन उन्हींके उपासक हों। डॉ० स्टीवेन्सन साहब इस ही मतकी पुष्टि अपने "कल्पसूत्र और नवतत्व" की भूमिकामें करते हैं। इसके साथ ही राजा शुद्धोदनके गृहमें जैनधर्मकी मान्यता थी इसकी पुष्टि बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तर' के इस कथनसे भी होती है कि 'बाल्यावस्थामें बुद्ध श्रीवत्स, स्वस्तिका, नन्द्यावर्त और वर्द्धमान यह चिन्ह अपने शीशपर धारण करता था।'[१] इनमें पहिले तीन चिन्ह तो क्रमशः शीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ और अर्हनाथ नामक जैन तीर्थंकरोंके चिन्ह हैं और अंतिम वर्द्धमान स्वयं भगवान महावीरका नाम है। अतएव यह कहा जासक्ता है कि राजा शुद्धोदन भगवान पार्श्वनाथके तीर्थके जैन श्रमणोंके भक्त थे। इन्हीं जैन श्रमणोंकी उपासना भगवान महावीरके पिता राजा सिद्धार्थ किया करते थे।[२] इस प्रकार दोनों समकालीन युग प्रधान पुरुषोंके पितृकुलका विवरण है।

१ जैनीज्म-दी अर्लीफैथ ऑफ अशोक। २ जैनसूत्र (S. B. E) भाग १ पृ० १९४। अब यह बिल्कुल प्रमाणित होचुका है कि जैनधर्मका अस्तित्व भगवान महावीरके पहिले भी था। बौद्ध ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख 'निगन्थ' के धर्मरूपमें किया गया है, वह इसका साक्षी है; जैसे कि डॉ० जैकोबीने जैन सूत्रोंकी (S. B. E.) भूमिकामें प्रमाणित किया है। सुत्तनिपात (S. B. E.) की भूमिकासे यह स्पष्ट है कि उस समय मुख्यतः दो सम्प्रदाय श्रमण और ब्राह्मणोंकी थीं। सुत्तनिपातमें चार प्रकारके श्रमण बताये हैं। इनमें प्रारम्भके तीन ठीक वही हैं जो जैनियोंके पंचपरमेष्ठियोंमें अर्हत आचार्य, उपाध्याय और साधु बताये गये हैं। तथापि जैनधर्म समणधर्म्म कहलाता था यह भी ज्ञात है (कल्पसूत्र पृ० ८३) अतएव इस तरह भी जैनधर्मका अस्तित्व भगवान महावीरसे प्राचीन प्रमाणित होता है। चौथे प्रकारके जो श्रमण सुत्तनिपातमें बताये हैं, वह इतर श्रमण-आजीविकादि समझना चाहिये।

इस तरह स्वाधीन गणराज्योंमें प्रधान प्रमुख राजाओंके समृद्धशाली क्षत्रिय कुलोंमें जन्म लेकर दोनों ही युगप्रधान पुरुष दिनोंदिन चन्द्रमाकी भांति बढ़ रहे थे। शीघ्र ही ये कौमार अवस्थाको प्राप्त हुये और कौमारकालकी निश्चिन्त रंगरलियोंमें व्यस्त होगये, किन्तु आजकलके युवकोंकी भांति विलासिताकी आधीनता इनके निकट छू भी नहीं गई थी। यह हो भी कैसे सक्ता था? वे स्वाधीन वातावरणमें जन्म लिये युगप्रधान पुरुष थे; और आजकलके युवक परतंत्रताके आधीन अल्प भाग्यवान् व्यक्तियां हैं। इसलिए इनके शरीर और मन सर्वथा गुलामीकी बूसे भरे हुये हैं। वस्तुतः इन विलासिताके गुलाम युवकोंके लिये इन दोनों युगप्रधान पुरुषोंके बालपनके चरित्र अनुकरणीय आदर्श हैं।

कौमारावस्थामें म० बुद्ध अपने कुलके अन्य राजपुत्रोंके साथ आनन्दसे क्रीड़ायें किया करते थे। स्वाधीन अहिंसाप्रिय कुलमें जन्म लेकर उनका हृदय पितृसंस्कृतिके अनुरूप अति कोमल और दयार्द्र था। एक दिवस वह अपने चचेरे भाई देवदत्तके साथ धनुं-कौशलका अभ्यास कौतूहलवश कर रहे थे। यकायक देवदत्तने एक बाण उड़ते हुये पक्षीके मार दिया। वह बेचारा निरापराध पक्षी धड़ामसे इन दोनोंके अगाड़ी आ गिरा! बुद्धकेलिये वह करुणाजनक दृश्य अश्रुत और असह्य था। वह झटसे उस घायल पक्षीकी ओर लपके और देवदत्तके इस दुष्कृत्यपर घृणा प्रकट करते हुए उस घायलपक्षीके शरीरमेंसे बाण खींच लिया और उसकी उचित सुश्रूषा की। दयाका क्या अच्छा नमूना है! आजके नवयुवकोंको भी निरपराध पशुओंके प्राण लेनेका शौक चर्राया हुआ है! उन्हें म० बुद्धके इस चरित्रसे शिक्षा लेना आवश्यक है।

भगवान महावीरके विषयमें भी हमें ज्ञात है कि वे अपनी कौमारावस्थामें राजकुमारों, मंत्रीपुत्रों और देवसहचरोंके साथ अनेक प्रकारकी क्रीड़ायें करते थे। स्वाधीन क्षत्रीयकुलमें परमोच्च-पदवीको प्राप्त करनेके लिये जन्म लेकर उन्होंने अपने बाल्यजीवनसे ही अहिंसा, त्याग और शौर्य्यत्वका आदर्श लोगोंके समक्ष रक्खा था। आठ वर्षकी नन्हींसी अवस्थामें ही उन्होंने जानबूझकर किसीके प्राणोंको पीड़ा न पहुंचानेका संकल्प कर लिया था। दृढ़ निश्चय कर लिया था कि किसी दशामें भी जान बूझकर प्राणि हिंसा नहीं करूंगा और सदैव सत्यका ही अभ्यास करूंगा। पराई वस्तु ग्रहण करके वे किसीको मानसिक दुःख नहीं पहुंचाते थे। पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुये, वे विलासिता और वासनातृप्तिसे कोसों दूर थे। परिमितरूपमें वे आवश्यक सामग्रीको रखते थे। शौकके लिये अनावश्यक वस्तुओंके ढेर एकत्रित नहीं करते थे। ऐसा संयममय जीवन व्यतीत करते हुये, वे वीर-भेषमें कुमारकालीन क्रीड़ायें करते विचरते थे। एक दिवस राज्योद्यानमें वे अपने अन्य सहचरों सहित क्रीड़ा कररहे थे कि एक ओरसे विकराल सर्प उनपर आ धमका। बिचारे अन्य सखा भयभीत हो इधर उधर भाग निकले; परन्तु भगवान महावीर जरा भी भयभीत नहीं हुये। उन्होंने बातकी बातमें उस विषधरको वश कर लिया और उसपर दया करके उसे वैसा ही छोड़ दिया! वास्तवमें यह स्वर्गलोकका एक देव था, जो भगवानके दयालु चित्त और अपूर्व बलशाली शरीरकी प्रसिद्धि सुनकर इनकी परीक्षा लेने आया था। इसतरह भगवानकी परीक्षा करके वह विशेष हर्षित हुआ और भगवानकी

वंदना करके अपने स्थानको चला गया। भगवानका यह बाल्यावस्थाका चरित्र हमारे लिए एक अत्युत्तम अनुकरणीय आदर्श है।[1]

कुमारकालमें दोनों ही युगप्रधान पुरुषोंने किस प्रकारकी शिक्षा ग्रहणकी यह ज्ञात नहीं है। भगवान महावीरके विषयमें जैन शास्त्रोंमें कहा गया है कि वह जन्मसे ही मति, श्रुति और अवधिज्ञानकर संयुक्त थे।[2] इस अपेक्षा उनका ज्ञान बाल्यावस्थासे ही विशिष्ट था। इसमें संशय नहीं कि उस समय जो शिक्षायें और कलायें प्रचलित थीं, उनमें ये दोनों युगप्रधान पुरुष पारांगत थे। साथ ही इन दोनोंका शारीरिक बल और सौन्दर्य भी अपनी सानीका निराला था। म० बुद्धके विषयमें कहा गया है कि वे जन्मसे ही महापुरुषके बत्तीस लक्षणोंकर संयुक्त सुंदर शरीरके धारी थे।[3] भगवान महावीरके विषयमें भी हमें विदित है कि वे एक हजार आठ लक्षणों कर चिन्हित थे और उनके शरीरकी आकृति और शोभा अपूर्व थी। उन्होंने अपने पूर्व जन्मोंमें इतना विशेष पुन्य उपार्जन किया था कि उनका शरीर बिल्कुल विशुद्ध, मलमूत्र आदिकी बाधाओंसे रहित था। प्रत्युत उनके शरीरसे हर समय एक अच्छी सुगंध निकलती रहती थी। उनके शरीरका रुधिर दुग्धवत था। उनका पराक्रम अतुल था और शरीरमें क्षति पहुंचना असंभव थी।[4] म० बुद्ध और म० महावीर सदैव मिष्ट

---

१ भगवान महावीरके विषद दिव्य चरित्रके लिये 'उत्तरपुराण' 'महावीर पुराण', 'महावीरचरित' और 'भगवान महावीर' नामक ग्रन्थ देखना चाहिये। २ महावीरपुराण। ३ बुद्ध जीवन (S. B. E. XIX) पृ० १२ इत्यादि। ४ उत्तरपुराण पृ० ६०८ और जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ २५०—२५२।

भाषण करते थे, यह भी दोनों सम्प्रदायोंके शास्त्रोंसे ज्ञात है।

इस प्रकार जब ये सुन्दर शुभग शरीरके धारी राजकुमार युवावस्थाको प्राप्त हुये तो उनके माता-पिताको उनके पाणिग्रहण कराने की सुध आई। राजा शुद्धोदन अपने पुत्रका विवाह करा देनेमें बड़े व्यग्र थे, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं वैराग्य उनके पुत्रके कोमल हृदयपर अपना प्रभाव न जमा ले। तदनुसार म० बुद्धका शुभ विवाह यशोदा नामकी एक राजकन्यासे होगया और वह दाम्पत्य सुखका उपभोग करने लगे।[1] इन्हीं यशोदाके गर्भ और म० बुद्धके औरससे राहुल नामके पुत्रका जन्म हुआ था। भगवान महावीरके माता-पिताको भी उनकी युवावस्था निहारकर विवाह करा देनेकी आयोजना करनी पड़ी थी। देशदेशांतरोंके राजागण अपनी कन्याओंको भगवानके साथ परणवाना चाहते थे। इनमें प्रख्यात् राजा जितशत्रु अपनी कन्या यशोदाको विशेष रीति और आग्रहसे भगवानको समर्पण करना चाहते थे; परन्तु विशिष्ट ज्ञानी, त्यागकी प्रत्यक्ष मूर्ति भगवान महावीरको यह रमणीरत्न भी न मोह सका![2]

---

१ बुद्ध जीवन (S. B. E. XIX.) पृ० १२ इत्यादि।

२ श्वेताम्बर शास्त्रोंमें कहा गया है कि भगवानने अपने माता-पिताके आग्रहसे यशोदरा नामक कन्यासे पाणिग्रहण कर लिया था और उनके एक पुत्रीका भी जन्म हुआ था। उपरान्त जब उनके माता-पिता स्वर्गवास कर गये तब अपने भाई नन्दिवर्द्धनकी अनुमतिसे उन्होंने गृहत्याग कर मुनिव्रत धारण किया था। इस मतभेदका कारण समझमें नहीं आता। दिगम्बर शास्त्र अन्य तीर्थंकरोंका विवाह होना बतलाते हैं, परन्तु उनके पुत्रीका जन्म होना स्वीकार नहीं करते। संभव है कि इसी सिद्धान्तभेदको पुष्टि देनेके लिये श्वे० ग्रन्थोंमें यह कथा लिखी

उन्होंने संसारके कल्याणके लिए अपने सर्वस्वका त्याग करना ही परमावश्यक समझा। माता-पिताने बहुत समझाया परन्तु वैराग्यका गाढ़ा रङ्ग जिसके हृदय पर चढ़ गया हो, फिर वह उतारे नहीं उतरता। भगवान महावीरने विवाह करना अस्वीकार किया। उन्होंने उस समयके राजोन्मत्त युवा राजकुमारों और आवजीविकों तथा ब्राह्मण ऋषियों जैसे साधुओंको[2] मानो पूर्ण ब्रह्मचर्यका महत्व हृदयंगम कराया। जहां ऋषिगण भी इन्द्रियनिग्रह और संयमसे विमुख हों वहां ऐसे आदर्शकी परमावश्यक्ता थी। भगवान महावीरके

गई हो। बौद्ध ग्रंथोंमें भी भगवानके भाई और जमाई व स्त्री आदिका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। तिसपर उस समय सामाजिक वातावरणमें ब्रह्मचर्यका महत्व कम हो चला था। इस तरह अपने अखण्ड ब्रह्मचर्यसे मानो उसको शिक्षा देना भगवानको अभीष्ट था। दि० शास्त्र यशोदाके साथ विवाह करनेकी आयोजनाका जिक्र करते हैं; परन्तु भ० महावीरने स्वीकार नहीं किया यह स्पष्ट कहते हैं:—

भवान् किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं, नृपेन्द्र सिद्धार्थकनीयसीपतिं।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया, प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम् ॥ ६ ॥
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे, तदागतः कुंडपुरं सुहृद्वृतः।
सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता नृपोऽयमाखण्डलतुल्यविक्रमः ॥७॥
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमंगलम्।
अनेक कन्या परिवारयाऽऽरुहत्समीक्षितुं तुंगमनोरथं तदा ॥ ८ ॥

—हरिवंशपुराण।

१ भगवान महावीर पृष्ठ २३९। २ जैन और बौद्ध ग्रंथ प्रकट करते हैं कि आजीविकगण ब्रह्मचर्यको अनावश्यक समझ व्यभिचार रत होते भी नहीं हिचकते थे। (देखो आजीवक्स भाग १) तथापि ब्राह्मण ऋषियोंके पत्नियां थीं यह सर्व प्रकट है। बौद्धोंके सुत्तनिपातके तेविज्जसुत्तमें इसका स्पष्ट उल्लेख है।

दिव्य चरित्रमें जनताको इस आदर्शके दर्शन होगये। आजके असंयममय बीभत्स वातावरणमें प्रत्येक देशके नवयुवकोंके समक्ष ऐसा आदर्श उपस्थित करना परम आवश्यक है। जिस पवित्र भारतवर्षमें भगवान महावीरके दिव्य अखण्ड ब्रह्मचर्यका अनुपम आदर्श उपस्थित रहा था, वहीं आज ब्रह्मचर्यका प्रायः सर्वथा अभाव देखकर हृदय थर्रा जाता है। भारतवर्षके लिये भगवान महावीरका आदर्श परम शिक्षापूर्ण और हितकर है।

इस प्रकार दोनों युगप्रधान पुरुष अपने गृहस्थ जीवनमें सानन्द काल यापन कर रहे थे। भगवान महावीरने अपने गृहस्थ जीवनसे ही संयम और त्यागका अभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया था और म० बुद्ध नियमित ढंगसे दाम्पत्यसुखका उपभोग कर रहे थे। अस्तु।

(३)

गृहत्याग और साधुजीवन।

मनुष्य अपनी जानमें अपनेको बड़ा कुशल और चतुर समझता है। वास्तवमें जीवित संसारमें उससे बढ़कर और कोई बुद्धिमान् प्राणी है भी नहीं, किन्तु उसकी बुद्धिमत्ता, कुशलता, और चतुरताके भी खट्टे दांत कर देनेवाली एक शक्ति भी इस संसारमें विद्यमान् है। यह शक्ति यद्यपि जीती जागती शक्ति नहीं है, परंतु इसका प्रभाव स्वयं मनुष्यकी जीती जागती क्रियापर ही जमा हुआ है। मनुष्य अपनी आंखोंसे देखता रहता है और यह शक्ति अपना कार्य करती चली जाती है। उसके जीवनकी

दशाओंका अंत यही लाती है। इसीको लोग काल कहते हैं। सच-मुच कालकी शक्ति अति विचित्र है। कालचक्र सांसारिक परिवर्तनमें एक मुख्य कारण है। इस ही कालचक्रकी कृपासे प्रत्येक क्षणमें संसारका कुछका कुछ होजाता है। ऐसे प्रबल कालचक्रका प्रभाव बड़े बड़े आचार्यों और चक्रवर्तियोंका भी लिहाज नहीं करता है।

भगवान महावीर और म० बुद्ध भी इसी कालचक्रकी इच्छानुसार अपने बाल्य और कुमार अवस्थाको त्यागकर पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त होगये थे। म० बुद्ध रानी यशोदाके साथ सांसारिक सुखका उपभोग कर रहे थे कि एक दिन वे नगरमें होते हुये वन-बिहारके लिये निकले। उन्होंने रास्तेमें एक रोगीको देखकर अपने सार्थीसे उसका हाल पूछा। रोगोंके आताप और बुढ़ापेके दुःख सुनकर उनका हृदय व्यथासे व्याकुल होगया। इस आकुल-व्याकुल हृदयको लिए वे अगाड़ी बढ़े कि मृत पुरुषको लिए विलाप करते स्मशान भूमिको जाते अनेक मनुष्य दिखाई दिये। सार्थीसे फिर पूछा और हकीकतको जानकर उनका आकुल हृदय एकदम थर्रा गया। उन्होंने कहा जब यह शरीर नश्वर है; युवावस्था हमेशा रहनेकी नहीं; बुढ़ापेके दुःख दर्द सबको सहने पड़ते हैं; तो इससे उत्तम यही है कि उस मार्गका अनुसरण किया जाय जिससे इन जन्मजराके दुःखोंको न भुगतना पड़े। इसके साथ ही हृदयपर इन विचारोंका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि म० बुद्ध फिर लौटकर राजमहलमें अधिक दिन नहीं ठहरे। एक दिन रात्रिके समय छन्न नामक सार्थीको लेकर और घोड़ेपर सवार होकर निकल पड़े। बहुत दूर चलकर आखिर उनने सार्थीके सुपुर्द सब वस्त्राभूषण किये और

आप साधारण वस्त्रोंको धारण करके एकाकी वनकी एक ओरको चल दिये। इस फिकरमें घरसे निकल पड़े कि कोई सच्चे सुखके मार्गका जानकार कामिल पुरुष मिले तो मैं उसके चरणोंकी सेवा करके आर्योंके उत्तम ज्ञानका अधिकारी बनूं। इसही विचारमें निमग्न म० बुद्ध जारहे थे कि पीछेसे इनके पिताके भेजे हुये मनुष्य मिले। उन्होंने म० बुद्धको घर लौट चलनेके लिये बहुत समझाया। परन्तु पिताके अनुरोध और पत्नीकी करुण कातर प्रार्थनायें निरर्थक गईं। म० बुद्ध अपने निश्चयमें दृढ़ रहे। वे लोग हताश होकर कपिलवस्तुको लौट गये।[1]

अगाड़ी चलकर म० बुद्ध परिव्राजक ब्रह्मचारियोंके आश्रममें पहुंचे और वहां साधु आरादकालमकी प्रशंसा सुनकर वह उनके पास चले गए। इन साधुका मत सांख्यदर्शनसे बहुत कुछ मिलता जुलता था। म० बुद्ध इस मतका अध्ययन कुछ दिवस करते रहे। किंतु अन्तमें उन्हें विश्वास होगया कि "जो कुछ आरादने बतलाया है उससे मेरे हृदयकी संतुष्टि नहीं होसक्ती है।"[2] इसलिये वे वहांसे भी प्रस्थान कर गये और ऋषि उद्रकके पास पहुंचे। वहां भी कुछ दिन रहे। उपरांत वहांसे भी निराश होकर किसी उत्तम मार्गको पानेकी खोजमें अगाड़ी चल दिये। आखिरकार वे पर्वत 'क्या-ची' (गया-तापसवन) में पहुंचे। यहां एक परीषह-जय-वन (Pain-Suffering forest) नामक ग्राम था। यहां पहलेसे पांच भिक्षु मौजूद थे। म० बुद्धने देखा कि ये पांचों भिक्षु अपनी इंद्रियोंको पूर्णतः वश किये हुये हैं और उत्तम चारित्रके नियमोंका

१ बुद्ध जीवन (S. B. E. XIX.) पृष्ठ १३०... २ पूर्व पृष्ठ १३१

पालन कर रहे हैं तथापि तपश्चरणके भी अभ्यासी हैं।[1] यह देखकर म० बुद्ध विचारमग्न होगये। उपरांत उन भिक्षुओंका अभिवादन और नियमित क्रियाओं—सेवाओं (Having finished their attentions and dutiful services.) से निर्वृत्त होकर उनने वहीं नैरञ्जरा नदीके निकट एक स्थानपर आसन जमा लिया[3] और अपने उद्देश्य सिद्धिके लिये वे तपश्चरण करने लगे। शारीरिक विषय कषायका निरोध करने लगे और शरीर पुष्टिका ध्यान बिलकुल छोड़ बैठे। 'हृदयकी विशुद्धता पूर्वक वे उन उपवासोंका पालन करने लगे, जिनको कोई गृहस्थ सहन नहीं कर सक्ता। मौन और शांत हुये वे ध्यानमग्न थे। इस रीतिसे उन्होंने

१ 'भिक्षु' शब्दका व्यवहार जैनों और बौद्धोंके लिये पहिले होता था परन्तु उपरान्त केवल बौद्ध साधुओंके लिये ही उसका व्यवहार सीमित हो गया बतलाया गया है। यद्यपि जैन मुनिके पर्याय वाची शब्दके रूपमें अब भी इस शब्द (भिक्षु) का व्यवहार जैन लेखकों द्वारा होता है। (देखो वृहद् जैन शब्दार्णव भाग १ पृष्ठ ४) मि० र्‍हीस डेविड्सका कथन है कि 'भिक्षु शब्द पहिले पहिले जैनों अथवा बौद्धों द्वारा व्यवहृत हुआ था। ("Perhaps the Jain or the Buddhists first used it." Dialogues of Buddha. Intro. S. B. B. Series) ऐसी दशामें यहां पर जिन भिक्षुओंका उल्लेख किया जा रहा है वह जैन भिक्षु हों तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि म० बुद्धके पहिले बौद्धधर्मका अस्तित्व अभीतक तो प्रमाणित हुआ नहीं है। उसकी पुष्टि उपरोक्तके अगाड़ी जो विवरण मिलता है, उससे भी होती है। अस्तु यह भिक्षु जैन साधु ही थे। इनके नाम भी जैन साधुओंके नामसे मिलते जुलते हैं, यथा कौण्डिन्यकुलपुत्त, दशबल, काश्यप, वाष्प, अश्वजित और भद्र। २ बुद्ध जीवन (S. B. E. XIX) पृष्ठ १४१। ३ पूर्ववत्।

छः वर्ष निष्काल किये ।[1]

म० बुद्धने जो इस प्रकार छः वर्ष एक साधु जीवन व्यतीत किया था, वह जैन साधुकी उपवास और ध्यानमय, मौन और कायोत्सर्ग शांत अवस्थाके बिल्कुल समान है ।[2] अतएव इस अवस्थामें यह जैन शास्त्रोंकी इस मान्यताका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि म० बुद्ध अपने साधु जीवनमें किसी समय जैन मुनि भी रहे थे। जैन शास्त्रकार कहते हैं कि " श्री पार्श्वनाथ भगवानके तीर्थमें सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमें पिहिताश्रव साधुका शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो महाश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था। परंतु मछलियोंके आहार करनेसे वह ग्रहण की हुई दीक्षासे भ्रष्ट होगया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकांतमतकी प्रवृति की। फल, दही, दूध, शक्कर आदिके समान मांसमें भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करनेमें कोई पाप नहीं है। जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या वहनेवाला पदार्थ है उसी प्रकार शराब है, वह त्याज्य नहीं है। इस प्रकारकी

---

१. " With full purpose of heart (he set himself) to endure mortification, to restrain every bodily passion, and give up thought about sustenance. With purity of heart to observe the fast rules, which no worldly man (active man) can bear, silent and still, lost in thoughtful meditation, and so for six years he continued."—बुद्धजीवन (S. B. E. XIX). पृ० १४१.

२ जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ ३९-४१ और रत्नकरण्डक श्रावकाचार ९-१०.

घोषणा करके उसने संसारमें सम्पूर्ण पापकर्मकी परिपाटी चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है, इस तरहके सिद्धान्तकी कल्पना करके और उससे लोगोंको वशमें करके या अपने अनुयायी बनाकर वह मृत्युको प्राप्त हुआ।" जैन शास्त्रकारके इस कथनको सहसा हम अस्वीकार नहीं कर सक्ते हैं। अंतिम वाक्योंसे यह स्पष्ट है कि शास्त्रकार बौद्ध धर्म और म० बुद्धका उल्लेख कररहा है, क्योंकि 'क्षणिकवाद' बौद्धधर्मका मुख्य लक्षण है जिसका ही प्रतिपादन इन वाक्योंमें किया गया है। इतनेपर भी जो जैन शास्त्रकारने बौद्धोंके प्रति मद्यपान करनेका लाञ्छन लगाया है वह ठीक नहीं है।[2] इसमें किसी प्रकारकी भूल नजर आती है, किन्तु इसके कारण हम उक्त वाक्योंकी सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सक्ते! बेशक यह उस जमानेकी–ईसाकी नवीं शताब्दिकी रचना है, जब

---

१. सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ॥ ६ ॥
तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्टो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥ ७ ॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय-दुद्ध-सक्करए।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥ ८ ॥
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवद्दव्वं जहजलं तहा एदं।
इदि लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ॥ ९ ॥
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥ १० ॥
—दर्शनसार।

२ बौद्धोंके पंच व्रतोंमें अन्तिम 'मद्यपान त्याग' है। इस कारण यहांपर किसी तरहकी भूल नजर पड़ती है। (महावग्ग)।

भारतीय मतोंमें पारस्परिक स्पर्धा बहुत स्पष्ट और अधिकतापर हो गई थी, अतएव जैनाचार्यका तत्कालीन परिस्थितिके अनुसार म० बुद्धका उक्त प्रकार उल्लेख करना कुछ अनोखी क्रिया नहीं है, परन्तु इसपर भी जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसमें केवल मद्यपानकी बातको छोड़कर शेष सब यथार्थताको लिए हुए हैं। जिस स्थानपर पहिले पहिल म० बुद्धने जैन मुनिकी दीक्षा ग्रहण की थी उसका नाम ठीकसे बतलाया गया है। जैन और बौद्ध दोनों ही उस स्थानको वनग्राम (बौद्ध Forest town और जैन पलाश-ग्राम=पलाश-वनग्राम) बतलाते हैं और कहते हैं कि नदी उसके पासमें थी; जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं। तथापि बौद्ध शास्त्रकार म० बुद्धकी दीक्षा ग्रहण करनेकी क्रियाका भी उल्लेख "अभिवादन और नियमित क्रियायों और सेवायोंसे निर्वृत्त होने।" (Having finished their attentions and dutiful services) रूपमें करता है, और अंतिम वाक्योंके द्वारा जो जैनाचार्यने बौद्ध मान्यताओंका उल्लेख किया है, सो भी बिलकुल ठीक है। बौद्धधर्मका क्षणिकवाद विख्यात ही है; तथापि बौद्ध धर्ममें प्रारंभसे ही मृत मांसको भोजनमें ग्रहण करना बुरा नहीं बतलाया गया है।[1] जो जैनोंके अनुसार एक असद्क्रिया है। इस दशामें हम जैन शास्त्रकारके कथनको मान्यता देनेके लिये बाध्य हैं। इसके साथ ही हमको ज्ञात है कि जब म० बुद्ध सर्व प्रथम अपने धर्म प्रचारके लिये

१. मच्छी और मृतमास, यदि खासकर न ट.या गया हो, तो बौद्ध भिक्षु स्वीकार करते थे, यह बौद्धशास्त्रोंके निम्न उद्धरणोंसे प्रमाणित है:—महावग्ग ६,३१,११ और १४;६,२३,२;६,२५,२; महापरिनिब्बान सुत्त ४,१७-१८; और सुत्तनिपात २४१ (पृष्ठ ४०)।

राजगृहमें गये थे तो वहांके 'सुप्पतित्थ' नामक मंदिरमें ठहरे थे।[1] इसके उपरांत फिर कभी भी उनका उल्लेख हमें इस या ऐसे मंदिरमें ठहरनेका नहीं मिलता है। इस मंदिरका नाम जो 'सुप्पतित्थ' है, सो उसका सम्बंध किसी 'तित्थिय' मतप्रवर्तकसे होना चाहिये, परन्तु हम देखते हैं कि उस समयके प्रख्यात् छः मत-प्रवर्तकोंमें इस तरहका कोई नाम नहीं मिलता! हां, जैन तीर्थकरोंमें एक सुपार्श्वनाथजी अवश्य हुये हैं और उनके संक्षिप्त नामकी अपेक्षा उनके मूलनायकत्वका मंदिर अवश्य ही 'सुप्पतित्थ' का मंदिर कहला सक्ता है। जैन तीर्थंकरोंके नामोंका उल्लेख ऐसे संक्षिप्त रूपमें होता था, वह हमें जैन शास्त्रोंके उल्लेखोंमें मिलता है। 'दर्शनसार' ग्रन्थमें 'विपरीतमत' की उत्पत्ति बतलाते हुये आचार्य लिखते हैं:—

"सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंबुत्ति सुद्धसम्मत्तो।"

इसमें बावीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथजीका नामोल्लेख केवल 'सुव्वय' के रूपमें किया गया है। इसी तरह लोक व्यवहारतः संक्षेपमें सुपार्श्वनाथजीका नामोल्लेख 'सुप्प' के रूपमें किया जासक्ता है। इस रीतिसे जिस 'सुप्पतित्थ' के मंदिरमें म० बुद्ध पहिले पहिल ठहरे थे, वह जैन मंदिर ही था।* और उसमें उसके बाद

१. महावग्ग १-२२-१३ (S. B. E. पृष्ठ १४४) में स्पष्ट लिखा है कि म० बुद्ध पहिले ही जब अपने धर्मका प्रचार करने आये तो राजगृहमें लाठीवनमें 'सुप्पतित्थ' के मंदिरमें ठहरे। यहां सेनिय बिम्बसारने उनका उपदेश सुना तो उनके लिए वेलुवनमें एक आराम' बनकर दिया। *उस समय इस प्रकार सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथजीका मन्दिर विद्यमान् होना, जैन तीर्थंकरोंकी ऐतिहासिकता और जैनधर्मकी विशेष प्राचीनताका द्योतक है।

फिर उनके ठहरनेका उल्लेख नहीं मिलता है, उसका यही कारण प्रतीत होता है कि जैनियोंने जान लिया कि बुद्ध अब जिनप्रणीत धर्मके विरुद्ध होगये हैं; इसलिये उन्होंने भ्रष्ट जैन मुनिको पुनः आश्रय देना उचित नहीं समझा। इस तरह भी जैनोंकी इस मान्यताका समर्थन होता है कि म० बुद्ध एक समय जैन मुनि भी रहे थे।

अन्ततः म० बुद्ध स्वयं अपने मुखसे जैनियोंकी इस मान्यताको स्वीकार करते हैं। एक स्थानपर वे कहते हैं कि "मैंने सिर और दाढ़ीके बाल नोचनेकी भी परीषह सहन की है।[१]" यह मुनियोंकी केशलोंच क्रिया है।[२] अतएव इसका अभ्यास बुद्धने तब ही किया होगा जब वह जैन मुनि रहे होंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध अपने धर्मका प्रचार करनेके पहिले जैन मुनि थे और हम देखते हैं कि उन्होंने किसी एक संप्रदायकी मुनि-क्रियायोंका पालन नहीं किया था। एक समय वे वानप्रस्थ सन्यासी थे तो दूसरे समय जैन मुनि थे। *

भगवान महावीरके विषयमें जब हम विचार करते हैं तो देखते हैं कि उनका साधुजीवन म० बुद्धके विपरीत एक निश्चित और सुव्यवस्थित जीवन था। जैन शास्त्रोंके अध्ययनसे हमको ज्ञात होता है कि भगवान महावीर बाल्यावस्थासे ही श्रावकके व्रतोंका अभ्यास करते हुये अपने पिताके राज्यकार्यमें सहायक बन रहे थे। वे इस गृहस्थावस्थासे ही संयमका विशेष रीतिसे अभ्यास

---

१. 'डिस्कोर्सेस ऑफ गौतमबुद्ध' और मि० सॉन्डर्सका 'गौतमबुद्ध' पृष्ट १५. २. मूलाचार १:२९ और जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ ५६. * डॉ० भाण्डारकरने भी म० बुद्धका जैनमुनि होना स्वीकार किया है। देखो जैनहितैषी भाग ७ अंक १२ पृष्ठ १.

कर रहे थे। एक दिवस ऐसे ही विचारमग्न थे कि सहसा उनको अपने पूर्वभवका स्मरण हो आया और आत्मज्ञान प्रगट हुआ। उन्होंने विचारा कि स्वर्गोंके अपूर्व विषयसुखोंसे मेरी कुछ तृप्ति नहीं हुई तो यह सांसारिक क्षणिक इन्द्रियविषयसुख किस तरह मुझे सुखी बना सक्ते हैं? हा! वृथा ही मैंने यह अपने तीस वर्ष गुमा दिये। मनुष्यजन्म अति दुर्लभ है, उसको वृथा गंवा देना उचित नहीं। यही बात उत्तरपुराणमें इस प्रकार कही गई है:—

"त्रिंशच्छरद्भिस्तस्यैव कौमारमगमद्वयः।
ततोन्येद्युर्मतिज्ञानक्षयोपशमभेदतः ॥ २९६ ॥
समुत्पन्नमहाबोधिः स्मृतपूर्वभवांतरः।
लौकांतिकामरैः प्राप्य प्रस्तुतस्तुतिभिः स्तुतः ॥२९७॥
सकलामरसंदोहकृतनिःक्रमणक्रियः।
स्ववाक्प्रीणितसद्बंधुसंभावितविसर्जनः ॥ २९८ ॥

अर्थात्—"इसप्रकार भगवानके कुमारकालके तीस वर्ष व्यतीत हुए। उसके दूसरे ही दिन मतिज्ञानके विशेष क्षयोपशमसे उन्हें आत्मज्ञान प्रगट हुआ और पहिले भवका जातिस्मरण हुआ। उसी समय लौकांतिक देवोंने आकर समयानुसार उनकी स्तुति की और इंद्रादि सब देवोंने आकर उनके दीक्षाकल्याणकका उत्सव मनाया। भगवानने मीठी वाणीसे सब भाईबन्धुओंको प्रसन्न किया और सबसे विदा ली।"

इस तरह सबको संतुष्ट करके वे भगवान अपनी चन्द्रप्रभा पालकीपर आरूढ़ होकर वनषंड नामक वनमें पहुंचे। वहांपर आपने अपने सब वस्त्राभूषण आदि उतारकर वितरण कर दिये और सिद्धोंको नमस्कार करके उत्तराभिमुख हो पंचमुष्टि लोंचकर परम

उपासनीय निर्ग्रन्थ मुनि होगये। यह अगहन वदी दशमीका शुभ दिवस था, वास्तवमें संसारका कल्याण जिसके निमित्तसे होना अनिवार्य था और जिसके भवितव्यमें त्रिलोकवन्दनीय होना अंकित था, उसकी प्रत्येक जीवनक्रिया इतनी स्पष्ट और प्रभावशाली हो तो कोई आश्चर्य नहीं! भगवान महावीर ऐसे ही एक परमोत्कृष्ट महापुरुष थे। वे अपने इस जीवनमें ही अनुपम जीवित परमात्मा हुये थे यह हम अगाड़ी देखेंगे।

भगवान महावीरने निर्ग्रन्थ मुनिकी दिगम्बरीय (नग्न) दीक्षा गृहण की थी, यह दिगम्बरशास्त्र प्रगट करते हैं, परन्तु श्वेताम्बर संप्रदायके शास्त्र इससे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि भगवानने दीक्षासमयसे एक वर्ष और कुछ महीने उपरान्त तक 'देवदूष्य वस्त्र' धारण किये थे, पश्चात् वे नग्न हो गये थे।[१] 'देवदूष्य वस्त्र'की व्याख्यामें कुछ भी स्पष्ट रीतिसे नहीं बतलाया गया है कि इसका यथार्थभाव क्या है? इतना स्पष्ट किया है कि इस वस्त्रको पहिने हुये भी भगवान नग्न प्रतीत होते हैं। श्वेताम्बरियोंके इस कथनसे एक निष्पक्ष व्यक्ति सहसा उनके कथनपर विश्वास नहीं कर सक्ता! देवदूष्यवस्त्र पहिने हुये भी वे नग्न दिखते थे, इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वे नग्न थे।

---

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ ७९. २. डॉ० स्टीवेन्सन साहेबने श्वेताम्बरोंके इस कथनपर यही प्रकट किया है, यथाः—
"Jainas do not understand properly what it means, or do not wish to explain it. It might have meant, he become a Digambara, had this not been opposed to what follows." (Kalpasutra & Navatattwa. F. N. P. 85).

यदि हम श्वेताम्बर आगम ग्रंथोंपर इस सम्बन्धमें एक गंभीर दृष्टि डालें तो उनमें भी हमें नग्नावस्थाकी विशिष्टता मिल जाती है। अचेलक—नग्न अवस्थाको उनके 'आचाराङ्गसूत्र'में सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। उसमें लिखा है कि "उपवास करते हुये नग्न मुनिको जो पुद्गलका सामना करता है, लोग गाली भी देंगे, मारेंगे और उपसर्ग करेंगे और उसकी संसार अवस्थाकी क्रियायोंको कहकर चिढ़ायेंगे और असत्य आक्षेप करेंगे; इन सब उपसर्गोंको—कार्योंको चाहे वे प्रियकर हों या अप्रियकर हों, पूर्वकर्मोंका फल जानकर, उसे शांतिसे संतोषपूर्वक विचरना चाहिये। सर्व सांसारिकताको त्यागकर सम्यक्दृष्टि रखते हुये सब अप्रिय भावनायें सहन करना चाहिये। वही नग्न हैं और सांसारिक अवस्थाको धारण नहीं करते; प्रत्युत धर्मपर चलते हैं। यही सर्वोत्कृष्ट क्रिया है।"[१] इसके उपरान्त उसी सूत्रमें इसकी प्रशंसा करके कहा है कि 'तीर्थ-

---

१. "The naked, fasting (monk), who combats the flesh, will be abused, or struck, or hurt; he will be upbraided with his former trade, or reviled with untrue reproaches. Accounting (for this treatment) by his former sins, knowing pleasant and unpleasant occurences, he should patiently wander about. Omitting all worldliness one should bear all (disagreeable) feelings, being possessed of the right view (2) Those are called naked, who in this world, never returning (to a worldly state), (follow) my religion according to the commandment. This highest doctrine has here been declared for men." (Js. Pt. I. P. P. 55-56.)

ङ्करोंने भी इस नग्नवेशको धारण किया था।' ऐसी अवस्थामें स्पष्ट है कि न केवल भगवान महावीर और ऋषभदेवने ही इस नग्नावस्थाको धारण किया था, प्रत्युत प्रत्येक तीर्थङ्करने अपने मुनि जीवनमें इस परीषहको सहन किया था।

वास्तवमें श्वे० ग्रन्थोंमें भी जैन मुनियोंका प्रायः वैसा ही मार्ग निर्दिष्ट किया गया है जैसा दि० शास्त्रोंमें बतलाया गया है। यदि उसमें अन्तर है तो वह उपरान्तके टीकाकारोंके प्रयत्नोंका फल है। उनके इसी आचाराङ्गसूत्रमें सर्वोत्कृष्ट नग्न-अचेलक अवस्थाका निरूपण करके अगाड़ी क्रमशः तीन वस्त्रधारी,[२] दो वस्त्रधारी[३] और एक वस्त्रधारी[४] या नग्न साधुका रूप और उसका कर्तव्य प्रतिपादित किया गया है। एक वस्त्रधारी और नग्न मुनिको उनने एक ही कोटिमें रखकर प्राकृत अनियमितता प्रकट की है। इनके उपदेशक्रमसे यह स्पष्ट है कि वे वस्त्रको त्याग करना आवश्यक समझते थे और यह है भी ठीक, क्योंकि यदि वस्त्रधारी अवस्थासे मुक्ति लाभ होसक्ता तो कठिन नग्न दशाका प्रतिपादन करना वृथा ठहरता है। इसीलिये श्वेताम्बर शास्त्रोंमें वस्त्रधारी साधुओंको ऐसे साधु बतलाये हैं जो सांसारिक बन्धनोंसे छूटनेके लिये प्रोत्साहित होरहे हैं। (Aspiring to freedom from bonds)[६] और एक वस्त्रधारी साधुको नग्नभेष धारण करनेका भी परामर्श दिया गया है।[७] दिगम्बर आम्नायमें वस्त्रधारी

१. जैनसुत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ ५७-५८. २. पूर्व पृष्ठ ६७-६८. ३. पूर्व पृष्ठ ६९-७०. ४. पूर्व पृष्ठ ७१-७२. ५. पूर्व पृष्ठ ७३-७४. ६. पूर्व पृष्ठ ६९-७१. ७. पूर्व पृष्ठ ७१.

साधु उदासीन श्रावक माने गये हैं और उत्कृष्ट श्रावक 'क्षुल्लक' 'ऐलक' कहलाते हैं। श्वे० के उत्तराध्ययनसूत्रमें भी क्षुल्लकको लक्ष्यकर एक व्याख्यान लिखा गया है।[१] अतएव यह शब्द वहां भी उदासीन उत्कृष्ट श्रावकके लिए व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है। ऐसी दशामें यह स्पष्ट है कि श्वे०आचार्य भी मुनिके लिये नग्न अवस्था आवश्यक समझते हैं और वही सर्वोत्कृष्ट क्रिया है। तथापि तीर्थङ्कर भगवानका जीवन सर्वोत्कृष्ट होता है। इसलिये उनकेद्वारा सर्वोत्कृष्ट क्रियाका पालन और प्रचार होना परम युक्तियुक्त और आवश्यक है। इसीलिये अन्ततः श्वे० आचार्यको भी भगवान् महावीरके विषयमें कहना पड़ा है कि "उन (भगवान्)के तीन नाम इस प्रकार ज्ञात हैं अर्थात् उनके माता-पिताने उनका नाम वर्द्धमान रक्खा था, क्योंकि वे रागद्वेषसे रहित थे; वे 'श्रमण' इसलिये कहे जाते थे कि उन्होंने भयानक उपसर्ग और कष्ट सहन किये थे, उत्तम नग्न अवस्थाका अभ्यास किया था, और सांसारिक दुःखोंको सहन किया; और पूज्यनीय श्रमण महावीर, वे देवों द्वारा कहे गये थे।[२]

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ पृष्ठ २४-२७.

२. "His three names have thus been recorded by tradition: by his parents he was called Vardhamâna, because he is devoid of love and hate; (he is called) Sramana (i. e. Ascetic), because he sustains dreadful dangers and fears, the noble nakedness, and the miseries of the world; the name Venerable Ascetic Mahâvîra has been given to him by the gods." (Jaina Sutras. S. B. E. Pt. I. P. 193).

इसी प्रकार श्वेतांबर टीकाकारोंके कथनका अभिप्राय है। उन्होंने उक्त वर्णनका भाव 'जिनकल्पी' और 'स्थविरकल्पी' प्रभेदमें जो लिया है, वह भी हमारे उक्त कथनकी पुष्टि करता है। 'जिनकल्पी' के भाव यही होसक्ते हैं कि 'जिनकल्प'के और 'स्थविरकल्पी'के इसी तरह 'स्थविरकल्प'के समझना चाहिये, और यह भाव श्वे० मान्यताके अनुकूल है, क्योंकि तीर्थङ्करोंके समयमें तो वे नग्न जिनकल्पी साधुओंका होना मानते ही हैं। स्वयं तीर्थङ्कर भगवानने नग्न भेषको धारण किया था। अतएव 'जिनकल्प'के तीर्थंकर भगवानके समयके साधुओंको 'जिनकल्पी' बतलाना ठीक ही है और उपरांत 'स्थविरकल्प' पंचमकालमें वस्त्रधारी मुनियोंको 'स्थविरकल्पी' संज्ञा अपनी मानताके अनुसार देना युक्तियुक्त है। अतएव इस प्रभेदसे भी नग्न अवस्थाका महत्व और प्राचीनत्व प्रमाणित है।

वास्तवमें सांसारिक बंधनोंसे मुक्ति उस ही अवस्थामें मिल सक्ती है जब मनुष्य बाह्य पदार्थोंसे रंच मात्र भी सम्बंध या संसर्ग नहीं रखता है। इसीलिये एक जैन मुनि अपनी इच्छाओं और सांसारिक आकांक्षाओंपर सर्वथा विजयी होता है। इस विजयमें उसे सर्वोपरि 'लज्जा'को परास्त करना पड़ता है। यह एक प्राकृतिक और परमावश्यक क्रिया है। उस व्यक्तिकी निस्पृहता और इंद्रियनिग्रहताका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस अवस्थामें सांसारिक संसर्ग छूट ही जाता है। एक आयरलैण्डवासी लेखकके शब्दोंमें "कपड़ोंकी झंझटसे छूटनेपर मनुष्य अन्य अनेक झंझटोंसे छूट जाता है, एक जैनके निकट विशेष आवश्यक जो जल है, सो इस अवस्थामें उनको धोनेके लिये उसकी जरूरत ही नहीं पड़ती! वस्तुतः हमारी

बुराई भलाईकी जानकारी ही हमारे मुक्त होनेमें बाधक है। मुक्ति लाभ करनेके लिये हमें यह भूल जाना चाहिये कि हम नग्न हैं। जैन निर्ग्रन्थ इस बातको भूल गये हैं, इसीलिए उनको कपड़ोंकी आवश्यक्ता नही है"।[1] यह परमोत्कृष्ट और उपादेय अवस्था है। दि० और श्वे० शास्त्र ही केवल इस अवस्थाकी प्रशंसा नहीं करते; प्रत्युत अन्य धर्मोंमें भी इसको साधुपनेका एक चिह्न माना गया है। हिंदुओंके यहां भी नग्नावस्थाको कुछ कम गौरव प्राप्त नहीं हुआ है। शुकाचार्य दिगम्बर ही थे, जिनके राजा परीक्षितकी सभामें आनेपर हजारों ऋषि और स्वयं उनके पिता एवं परपिता उठ खड़े हुए थे।[2] हिन्दुओंके देवता शिव और दत्तात्रय नग्न ही हैं।[3] यूनानवासियोंके यहां भी नग्न देवताओंकी उपासना होती थी। ईसाईयोंकी बायबिलमें भी नग्नता साधुताका चिह्न स्वीकार की गई है; यथाः—

"और उसने अपने वस्त्र उतार डाले और सैमुयलके समक्ष ऐसी ही घोषणा की और उस संपूर्ण दिवस और रात्रिको वह नग्न रहा। इसपर उन्होंने कहा, "क्या आत्मा भी पैगम्बरोंमेंसे है?"—(सैमुयल, १९–२४)

"उसी समय प्रभूने अमोजके पुत्र ईसाय्यासे कहा, जा और अपने वस्त्र उतार डाल और अपने पैरोंसे जूते निकाल डाल। और उनने यही किया, नग्न और नंगे पैरों विचरने लगे।"

—(ईसाय्या २०–२).

मुसलमानोंके बारेमें भी कहा गया है कि "अरबोंके यहां भी

१. दी हार्ट ऑफ जैनीज्म पृष्ठ ३५. २. जैन इतिहास सीरीज भाग १. पृष्ठ १३. १३. पूर्वप्रमाण.

नग्न अवस्था संसार त्यागका एक चिह्न माना जाता था। मि० वाशिङ्गटन अरविन्ना अपनी "लाइफ ऑफ मुहम्मद" (Appendix) में कहते हैं कि 'तौफ अर्थात् कावाका परिक्रमा देना मुहम्मदसे पहिलेकी एक प्राचीन क्रिया थी और स्त्री-पुरुष दोनों ही नग्न होकर इस क्रियाको करते थे। मुहम्मदने इस क्रियाको बन्द किया और इहराम अर्थात् यात्रीके वस्त्रकी व्यवस्था की थी।'....ईसा-मसीहका विना सिया हुआ कोट अलंकृत भाषामें नग्नताका द्योतक है। St. John, XIX, 23)."[1] इस प्रकार यह प्रगट है कि एक समय संसारमें सर्वत्र नग्नता साधुपनेका आवश्यक चिह्न समझी जाती थी। भगवान महावीरके समयमें आजीवक आदि भी नग्न रहते थे, यह हम देख चुके हैं। आज भी हिंदुओंमें नंगे साधु मिलते हैं। उसी तरह जैन निर्ग्रंथ साधु भी प्राचीन दिगम्बर भेषमें विचरते दृष्टि पड़ते हैं।

इस परिस्थितिमें यह सहसा जीको नहीं लगता कि उस प्राचीन कालमें जैन निर्ग्रंथ मुनि वस्त्रधारी होते हों। जैन शास्त्रोंके अतिरिक्त बौद्ध शास्त्रोंमें जैन मुनियोंका उल्लेख नग्नरूपमें किया गया है।[2] साथ ही उनमें 'एक वस्त्रधारी' और 'श्वेतवस्त्रधारी' निगन्थ-सावकों (श्रावकों) का भी उल्लेख मिलता है।[3] और यह

---

१. सप्लीमेन्ट टू दी कॉन्फ्युयेन्स ऑफ ओपोज़िट्स. पृष्ठ २७.
२. देखो दिव्यावदान पृष्ठ १६५; जातकमाला (S. B. B. Vol. I) पृष्ठ १४०; विशाखावत्थु-धम्म-पदत्थ-कथा (P. T. S. Vol. I), भाग २ पृष्ठ ३८४; डायोलॉग्स ऑफ दी बुद्ध भाग ३ पृष्ठ १४; महावग्ग ८,१५;३;१,३८;१६, चुल्लवग्ग ८,२८,३., संयुत्तनिकाय २,३,१०,७.
३. इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ४३.

दिगम्बर जैन शास्त्रोंके सर्वथा अनुकूल हैं। व्रती श्रावकोंको श्वेतवस्त्र धारण करनेका विधान उनमें मिलता है तथा ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक 'एकवस्त्रधारी' कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त बौद्धशास्त्रमें जैन मुनियोंकी कतिपय प्रख्यात् दैनिक क्रियायोंका भी इस प्रकार वर्णन मिलता है–

"डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक (S. B. B.) के 'कस्सप–सिहनाद–सुत्त'में विविध साधुओंकी क्रियायोंका वर्णन दिया हुआ है। उनमें एक प्रकारके साधुओंकी क्रियायें निम्नप्रकार दी हैं और यह जैन साधुओंकी क्रियायोंसे बिलकुल मिल जातीं हैं। इसलिये हम दोनोंको यहांपर देते हैं:—

बौद्धशास्त्र—

१–" वह नग्न विचरता है।"

जैनशास्त्र—

१–यह जैन मुनिके २८ मूलगुणोंमेंसे एक है और यों है:–

'वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अचेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥'–मूलाचार।

२–" वह ढीली आदतोंका है। शारीरिक कर्म और भोजन वह

१. यथाः–षट्द्वेधा प्रथमः स्मश्रुमूर्धजानअपनाययेद्दते।
सितकौपीन सं व्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३८॥
तद्वत द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुंचत्यसौ कचान्।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिभाखनम् ॥ ४८ ॥
—सागारधर्मामृत।
"उत्कृष्टः श्रावको भवेत् द्विविधः वस्त्रैकधरः प्रथमः कोपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु।"
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका।

खड़े २ करता है, (भले मानसोंकी भांति झुककर या बैठकर नहीं करता ।"

२–इसमें २४ वें (अस्नान) २६ वें (अदन्तघर्षण) और २७ वें (स्थितभोजन) मूलगुणोंका उल्लेख है ।

३–" वह अपने हाथ चाटकर साफ करलेता है ।"

३–जैन मुनि हाथोंकी अञ्जुलिमें जो भोजन रक्खा जावेगा उसे वैसा ही खा लेते हैं, ग्रास बनाकर नहीं खाते। यहांपर बौद्धाचार्य इसी क्रियाको विकृत आक्षेपरूपसे बतलारहे हैं।

४–(जब वह अपने आहारके लिये जाता है, यदि सभ्यतापूर्वक नजदीक आनेको या ठहरनेको कहा जाय कि जिससे भोजन उसके पात्रमें रख दिया जाय तो) वह तेजीसे चला जाता है... ।"

४–यह मूलाचारकी ऐषणा समितिकी टीकामें स्पष्ट कर दिया गया हैं; यथा:—

"भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशान्ते धूममुशलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः। तत्र गच्छन्नातिद्रुतं, न मन्दं, न विलम्बितं गच्छेत ॥ १२१ ॥"

५–"वह (उस) भोजनको नहीं लेता है। (जो उसके निकट आहारके लिये निकलनेके पहिले लाया गया हो) !

५–ऐषणा समितिमें मुनिको ४६ दोषरहित, मन, वचन, काय-कृत, कारित अनुमोदनाके ९ प्रकारके दोषोंसे रहित भोजन ग्रहण करना आवश्यक बतलाया है, अतएव लाया हुआ भोजन खास उनके निमित्तसे बना जानकर वे ग्रहण नहीं करते ।

६—'वह (उस भोजनको भी) नहीं लेता है (यदि बता दिया जाय कि वह खासकर उसके लिये बनाया गया है) ।'

६—इसमें भी कारित अनुमोदना दोष प्रकट हैं ।

७—'वह कोई निमंत्रण स्वीकार नहीं करता........'

७-यहां भी उक्त दोष है, जैन मुनि निमंत्रण स्वीकार नहीं करते।

८—'वह नहीं लेगा (भोजन जो उस वर्तनमेंसे निकाला गया होगा) जिसमें वह रांधा गया हो........।'

८—यह 'स्थापित या न्यस्त' दोष है।

९-(वह भोजन) नहीं (लेगा) आंगनमेंसे (कि शायद वह वहां खासकर उसके लिये ही रक्खा हो)'

१०-(वह भोजन) नहीं (लेगा) जो लकड़ियोंके दरमियान रक्खा गया हो....।'

९-१०. प्रादुष्कर दोष हैं ।

११—(वह भोजन) नहीं (लेगा) जो सिलवट्टेके दरमियान रक्खा हो।

११—यहां 'उन्मिश्र अशन दोष' का भाव है ।

१२—जब दो व्यक्ति साथ२ भोजन करते हैं तो वह नहीं लेगा.... केवल एक ही देगा ।

१२—यह अनीश्वर व्यक्ताव्यक्त अनीशार्थ दोषका रूपान्तर है ।

१३—'वह दूध पिलाती हुई स्त्रीसे भोजन नहीं लेगा....।'

१४—'वह पुरुषके संग रमण करती हुई स्त्रीसे भोजन नहीं लेगा।'

१३-१४—यह दायक अशनदोषके भेद हैं ।

१५—'वह भोजन नहीं लेगा (जो अकालके समय...) एकत्रित किया गया हो ।'

१५–यह अभिघट उद्गम दोष दीखता है।

१६–'वह वहां भोजन स्वीकार नहीं करेगा जहां पासमें कुत्ता खड़ाहो।'

१६–प्रथम पादांतर जीव सम्पात या दंशक अन्तराय दोष है। श्वे० के यहां भी यह स्वीकृत है।

१७–वह वहां भोजन नहीं लेगा जहां मक्खियोंका ढेर लगा हो।

१७–यहां 'पाणिजंतुवध' अन्तरायका अभिप्राय है।

१८–वह (भोजनमें) मच्छी, मांस, मद्य, आसव, सोरवा ग्रहण नहीं करेगा। १८–यह स्पष्ट है, यथा:—

"खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तित्तकटुकसायंविलमधुररसाणं च जं चयणं ॥१५५॥
चत्तारि महावियडी य होंति णवणीद मज्जमांसमधू।
कंखापसंगदप्पा संजमकारीओ एदाओ ॥ १५६ ॥"
—मूलाचार।

१९–वह 'एक घर जानेवाला' होता है....एक ग्रास भोजन करनेवाला होता है या वह 'दो घर जानेवाला' होता है... दो ग्रास भोजन करनेवाला है; या वह 'सात घर जानेवाला है–सात ग्रास तक करनेवाला है। वह एक आहार निमित्त दो निमित्त या ऐसे ही साततक जानेका नियमी होता है।

१९–यह वृत्तिपरिसंख्यान क्रिया है।

२०–वह भोजन दिनमें एक वार करता है, अथवा दो दिनमें एकवार अथवा ऐसे ही सात दिनमें एक वार करता है। इस प्रकार वह नियमानुसार नियमित अन्तरालमें–अर्ध मास तकमें–भोजन ग्रहण करता रहता है।

२०—यह सांकाक्षानशन नामक व्रत है।

इन क्रियाओंके विशद विवेचनके लिये 'वीर' वर्ष २ अंक २२में 'जैन मुनियोंका प्राचीन भेष' शीर्षक लेख देखना चाहिए।

इसके साथ ही ब्राह्मणोंके शास्त्रोंमें भी जैन मुनियोंका भेष नग्न बतलाया गया है।[1] इन सब प्रमाणोंको देखते हुये यही उचित मालूम होता है कि जैन तीर्थंकरोंने निर्ग्रन्थ मुनिका भेष नग्न ही बतलाया था। और जब उन्होंने इस तरह इसका प्रतिपादन किया था तो वह स्वयं भी नग्न भेषमें अवश्य रहे थे यह प्रत्यक्ष है।

अतएव भगवान् महावीरने परम उपादेय दिगम्बरीय दीक्षा धारण करके ढाई दिनका उपवास (वेला) किया था। उसके उपरांत जब वह सर्व प्रथम मुनि अवस्थामें आहार निमित्त निकले तो कूलनगरके कूलनृपने उनको पड़गाहकर भक्तिपूर्वक आहारदान दिया था।[3] यही बात श्री गुणभद्राचार्यजी निम्न श्लोकों द्वारा प्रकट करते हैं:—

---

१. ऋग्वेद १०।१३६, वराहमिहिर संहिता १९।६१ और ४५।५८; महाभारत ३।२६।२७; रामायण बालकाण्ड भूषण टीका १४।२२; विष्णुपुराण ३।१८ अध्याय; वेदान्तसूत्र २।२।३३-३६; दशकुमार चरित २. २. महावीर पुराण. ३. राजा और नगरका एक ही नाम होना हमें संदेहमें डाल देता है कि कहीं यहाँ किसी गणराज्यके राजाका उल्लेख न किया गया हो। इसी अनुरूप हमने अपने 'भगवान महावीर' में इन राजाको 'कोल्यगणराज्य' का एक राजा और उसके गणराज्यकी राजधानी 'देवकलि' को कुलग्राम बतलाया है। किन्तु पं० विहारीलाल बी. सी. टी. का कथन है कि यह नगर भगवान महावीरके कुलका नगर अर्थात् कुण्डग्राम होना चाहिये, क्योंकि भगवानने अपने जन्मस्थानके निकट ही दीक्षा ग्रहण करके योग धारण किया था। यह भी अनुमान 'कुल ग्राम' के अर्थ 'कुलका ग्राम'

" अथ भट्टारकोप्यस्मादगात्कायस्थितिं प्रति ।
कुलग्रामपुरीं श्रीमत् व्योमगामिपुरोपमं ॥ ३१८ ॥
कूलनामा महीपालो दृष्ट्वा तं भक्तिभावितः ।
प्रियंगुकुसुमांगाभः त्रिः परीत्य प्रदक्षिणं ॥ ३१९ ॥
प्रणम्य पादयोर्मूर्ध्ना निधिं वा गृहमागतं ।
प्रतीक्ष्यार्घादिभिः पूज्यस्थाने सुस्थाप्य सुव्रतं ॥३२०॥
गंधादिभिर्विभूष्यैतत्पादोपांतमहीतलं ।
परमान्नं विशुद्ध्यास्मै सोदितेष्टार्थसाधनं ॥ ३२१ ॥ "

उत्तरपुराण ।

अर्थात्–"अथानंतर पारणाके दिन वे भट्टारक महावीरस्वामी आहारके लिये निकले तथा स्वर्गकी नगरीके समान कुलग्राम नामकी नगरीमें पहुंचे । प्रियंगुके फूलके समान (कुछ लालवर्णी) कांतिको

लेनेसे युक्तिसंगत बैठता है, किन्तु इस दशामें कुलनृपका पता लगाना शेष रहता है । इसी कारण हमने आपके इस मतसे असहमतता प्रकट की थी । परन्तु अब विशेष अध्ययनके उपरान्त यह ज्ञात हुआ है कि उस समय कुलका भाव शब्दार्थमें प्रायः वंश या गणका लिया जाता था । बौद्धोंके शास्त्रोंमें हमें ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं । 'थेरगाथा' में कई स्थलोंपर 'कुलगेहे' शब्दका व्यवहार हुआ मिलता है । इसका अनुवाद मिसेज ह्रीस डेविड्सने Clansman's family किया है । (See The Psalms of Brethern. P. 51) इस अपेक्षा यह स्पष्ट है कि कुलनगर भगवान महावीरके कुल अथवा गणका नगर था और कूलनृप भी उसी गणके एक राजा थे, क्योंकि यह हमको मालूम ही है कि ज्ञातृवंशी, लिच्छवि आदि कुल वज्जियन गणराज्यमें सम्मिलित थे और वे लोग राजा कहलाते थे । इसीलिये दि० जैन ग्रंथोंमें जो उक्त प्रकार उल्लेख है वह गणराज्यापेक्षा है ।

धारण करनेवाले उन भगवानको उस राजाने पूज्य स्थानपर विराजमान कर अर्घादिकसे उनकी पूजा की। उनके चरणकमलके समीपवर्ती पृथिवीका भाग गंधादिकसे विभूषित किया और बड़ी विशुद्धिके साथ उन्हें इष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाला परमान्न समर्पण किया।"

भगवान पारणा करके पुनः वनमें आकर ध्यानलीन और तपश्चरण रत होगये। 'वहांपर निशंकरीतिसे रहकर उन्होंने अनेक योगोंकी प्रवृत्ति की और एकांत स्थानमें विराजमान होकर वारबार दश तरहके धर्मध्यानका चिंतवन किया।' उपरान्त विचरते हुये वे उज्जयनीके निकट अवस्थित अतिमुक्तक नामक श्मशानमें पहुंचे और वहां प्रतिमायोग धारण करके तिष्ठ गये। उसी समय एक रुद्रने आकर उनपर घोर उपसर्ग किया; किन्तु भगवान जरा भी अपने ध्यानसे चलविचल नहीं हुये। हठात् रुद्रको लज्जित होना पड़ा और उसने भगवानकी उचित रूपमें संस्तुति की।[1] सचमुच जो धीर वीर होते हैं वे इस प्रकार उपसर्ग आनेपर उद्देश्य–पथसे विचलित नहीं होते हैं। कितनी ही बाधायें आयें, कितने ही संकट उपस्थित हों, और कितने ही कण्टक मार्गमें बिछे हों; परन्तु धीर वीर मनीषी उनको सहर्ष सहन करके अपने इष्ट स्थानपर पहुंच जाते हैं। उन्हें कोई भी इष्ट पथसे विचलित नहीं कर सका।

भगवान महावीर परम धीरवीर गंभीर महापुरुष थे। वास्तवमें वे अनुपमेय थे। उन्होंने नियमित ढंगसे बाल्यपनेके नन्हें जीवनसे संयमका अभ्यास किया था। क्रमानुसार उसमें उन्नति करते हुये वे उसका पूर्ण पालन करनेके लिये परम दिगम्बर मुनिभेषमें सुशो-

१. उत्तरपुराण पृष्ठ ६१२-६१३.

भिल हुये थे और इस अवस्थामें उन्होंने लगातार बारह वर्षका ज्ञान ध्यानमय तपश्चरण किया था। इस तरह म० बुद्ध और भगवान महावीरके साधुजीवन व्यतीत हुये थे। म० बुद्धने किसी नियमित साधुसंप्रदायका व्यवस्थित अभ्यास नहीं किया था और भगवान महावीरने प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमणोंकी क्रियाओंका पालन अपने गृहत्यागके प्रथम दिनसे ही किया था। अतएव इन दोनों युगप्रधान पुरुषोंके साधुजीवन भी बिल्कुल विभिन्न थे।

(४)

ज्ञानप्राप्ति और धर्मप्रचार।

'मनुष्यमें पूर्णपनेकी संपूर्ण शक्ति विद्यमान है' यह विश्वास आत्मवादके सुरम्य जमानेमें प्रत्येक व्यक्तिको हृदयङ्गम था। किन्तु इस आधुनिक पुद्गलवादके दौरदौरेमें यह विश्वास बहुत कुछ लुप्त होरहा है। लोग इस प्राकृतिक श्रद्धान-आत्मविश्वासकी ओरसे विमुख होरहे हैं। आत्मवादकी रहस्यमय घटनाओंको उपहासकी दृष्टिसे देखरहे हैं। मनुष्यकी अपरिमित आत्मशक्तिमें आज प्रायः लोगोंको अविश्वास ही है, किन्तु सत्य कभी ओझल हो नहीं सक्ता! धूलकी कोटिराशि उस पर डालीं जांय, परन्तु उसका प्रखर प्रकाश ज्योंका त्यों रहेगा। आत्मवाद एक प्राकृतिक सिद्धान्त है उसका प्रभाव कभी मिट नहीं सक्ता। परिणामतः आज इस भौतिक सभ्यतामें लालित पालित और शिक्षित दीक्षित हुये विद्वान् ही इसके अनादिनिधन सिद्धान्तोंको प्रत्यक्ष प्रमाणों-

द्वारा स्वीकार करनेको बाध्य हुये हैं। सर ओलीवर लॉज महोदय इन विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं। इन्होंने अपने स्वतंत्र प्रयत्नों और आविष्कारों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्यमें अनन्त शक्ति है। स्वयं परमात्माकी प्रतिमूर्ति उसके भीतर मौजूद है। इस शरीरके नाशके साथ, उसका अन्त नहीं होजाता। वह जीवित रहता और परमोच्च जीवनको प्राप्त करता है।[1]

ये उद्गार यथार्थ सत्य हैं। भारतमें इनकी मान्यता और उपासना युगों पहिलेसे होती आई है। और आज भी इस पवित्र भूमिमें इस मान्यताको ही आदर प्राप्त है, किन्तु नूतन सभ्यताके मदमाते नवयुवक आज इस प्राचीन सत्यको सहसा गले उतारनेमें हिचकते दृष्टि पड़ते हैं। अतएव आत्मवादके लिये भौतिक संसारके प्रख्यात् विद्वान्के उक्त उद्गार हर्षोत्पादक शुभ चिन्ह हैं। इनमें आशाकी वह रेखा विद्यमान है जो निकट भविष्यमें संसारको आत्मवादके सुखमार्ग पर चलते दिखायगी! उस समय सारा संसार यदि जैनाचार्यके साथ यह घोषणा करते दिखाई दे तो कोई आश्चर्य नहीं कि:— 'यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तथा।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥'

भावार्थ—'जो परमात्मा है वही मैं हूं तथा जो मैं हूं सो ही परमात्मा है। इसलिये मैं ही मेरे द्वारा भक्ति किये जानेके योग्य हूं और कोई नहीं, ऐसी वस्तुकी स्थिति है।' वस्तुतः इस यथार्थ वस्तुस्थितिके अनुरूपमें यदि मनुष्य निरालम्ब हो पौद्गलिक प्रभावसे मुख मोड़ले तो वह इन सबके दर्शन सुगम करले।

१. देखो "थियोसोफिस्ट" भाग ६१ संख्या ४८ वीं पृष्ठ १६०।

फिर इसी धुनमें उसे शांति और सुखका अनुभव प्राप्त हो और वह इसी सत्यकी उच्च तान लगावे और कहे:—

'निज घटमें परमात्मा, चिन्मूरति भइया।
ताहि विलोक सुदृष्टिधर, पंडित परखैय्या' ॥

यही प्राचीन सत्य है। भारतके पुरुषोंने इस ही की सर्वथा घोषणा की थी! घोषणा ही नहीं, प्रत्युत तद्रूप आचरण करके उन्होंने यथार्थताके—वस्तुस्थितिके—प्रत्यक्ष दर्शन लोगोंको करा दिये थे। भगवान महावीर और म० बुद्ध भी उन्हीं भारतीय पुरातन पुरुषोंकी गणनामेंसे बाहिर नहीं हैं; यद्यपि म० बुद्धके विषयमें इतना अवश्य है कि उन्होंने सामयिक परिस्थितिको सुधारनेके लिये प्रगटरूपमें आत्माके अस्तित्वसे इन्कार किया था, परन्तु अन्ततः अस्पष्टरूपमें उनको उसका अस्तित्व और महत्व स्वीकार करना पड़ा था, यह हम अगाड़ी देखेंगे, अतएव यहांपर हमको देखना है कि इन दोनों युगप्रधान पुरुषोंने किसरीतिसे इस यथार्थ आर्य सत्यके दर्शन किये थे!

म० बुद्धके विषयमें हम देख आये हैं कि वे परिव्राजक आदि साधुओंके मतोंका अभ्यास करके, जैन साधुकी ज्ञान—ध्यान-मय अवस्थाको प्राप्त हुये थे। उस अवस्थामें उन्होंने छः वर्षका कठिन तपश्चरण धारण किया था। इस तपश्चरणमें उनका शरीर बिल्कुल सूखगया था। वे बिलकुल शिथिल हो गये थे परन्तु उनने यह सब तपश्चरण निदान बांधकर प्रबुद्ध होनेकी तीव्र आकांक्षासे किया था; इसीलिये वह इच्छित फलको न दे सका! बस,

म० बुद्धने जब देखा कि इस कठिन तपश्चरण द्वारा भी उनको उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं होती, तो उन्होंने कहाः–

"न इन कठिनाइयोंके सहन करनेवाले नागवार मार्गसे मैं उस अनोखे और उत्कृष्ट पूर्ण (आर्योंके) ज्ञानको, जो मनुष्यकी बुद्धिके बहार है, प्राप्त कर पाऊंगा। क्या सम्भव नहीं है कि उसके प्राप्त करनेका कोई अन्य मार्ग हो ?"

(E. R. E. Vol. II. P. 70.)

इसके साथ ही उन्होंने शरीरका पोषण करना पुनः प्रारम्भ कर दिया, परन्तु इस दशामें भी उनका श्रद्धान आर्योंके उत्कृष्ट एवं विशिष्ट ज्ञानमें तनिक भी कम न हुआ। उनको उस उत्कृष्ट ज्ञानके पानेकी लालसा अब भी रही और वह उसको अन्य सुगम उपायों द्वारा प्राप्त करनेके प्रयत्नमें संलग्न होगये; किन्तु इतना दृढ़ श्रद्धान म० बुद्धको जो आत्माके उत्कृष्ट ज्ञानकी शक्तिमें हुआ, सो कुछ कम आश्चर्यपूर्ण नहीं है। अवश्य ही इतना दृढ़ श्रद्धान इस उत्कृष्ट ज्ञानमें उसी अवस्थामें हो सक्ता है जब उसके साक्षात् दर्शन उस श्रद्धानीको होगये हों। अतएव इसमें संशय नहीं कि म० बुद्धने अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथके तीर्थके किसी केवलज्ञानी ऋषिराजके दर्शन किये होंगे। इसी कारण उनका इतना दृढ़ श्रद्धान था।

म० बुद्ध अपने इस दृढ़ श्रद्धानके अनुरूपमें अन्य सुगम रीतिसे इस उत्कृष्ट आर्यज्ञानको प्राप्त करनेमें संलग्न थे। इतनी कठिन तपश्चर्या जो उन्होंने की थी वह वृथा ही जानेवाली न थी।

१ बुद्ध जीवन (S. B. E. XIX) पृष्ठ १४७...

परिणामतः उनको बोधि-वृक्षके निकट उस 'मार्ग'के दर्शन होगये, जिसकी वे खोजमें थे। बौद्ध शास्त्रोंका कथन है कि इस अवसरपर उनको पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी और वे 'तथागत' होगये थे।[1] बौद्धोंके इस कथनमें कितना तथ्य है, यह हम उन्हींके शास्त्रोंसे देखेंगे।

म० बुद्ध तथागत होगये, परन्तु इस अवस्थामें भी वे उन सब प्रश्नोंका उत्तर नहीं देते थे, जो सैद्धांतिक विवेचनमें सर्व प्रथम अगाड़ी आते हैं और सामान्य लोगोंको एक गोरखधंधासा समझ पड़ते हैं।[2] अतएव इन बातोंको ध्यानमें रखते हुए हम सहसा बौद्धोंकी उक्त मान्यताको स्वीकार नहीं कर सक्ते! म०बुद्धको 'बोधि-वृक्ष'के नीचे किसी प्रकारके उच्चज्ञानके दर्शन अवश्य हुये थे, परन्तु क्या वह पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) था, यह विचारणीय है। इसके लिये हम स्वयं कुछ न कहकर केवल बौद्धोंके मान्य और प्राचीन ग्रंथ 'मिलिन्द पन्ह'के शब्द ही उपस्थित करेंगे। यहां म० बुद्धके पूर्णज्ञान (केवलज्ञान या सर्वज्ञता)के विषयमें पूछे जानेपर बौद्धाचार्य कहते हैं:—

"वह ज्ञानकी दृष्टि उनके निकट हर समय नहीं रहती थी। भगवत्की सर्वज्ञता विचार करनेपर अवलम्बित थी, और जब वह विचार करते थे तो वह उस बातको जान लेते थे, जिसको वह जानना चाहते थे।"

इसपर प्रश्नकर्ता राजा मिलिन्द उनसे कहते हैं कि:—

१ महावग्ग पृष्ठ ७३-७४। २ दी डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध-पोत्थपादसुत्त (S. B. B. Vol. II.) पृष्ठ २५४ और डा०कीथकी 'बुद्धिस्ट फिलासफी' पृष्ठ ३६ और ५४।

" इस दशामें जब कि विचार करनेसे बुद्ध किसी बातको जानते थे, तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सके।"

बौद्धाचार्य राजाके इस कथनको किन्हीं अंशोंमें स्वीकार करते हुये कहते हैं:—

" यदि ऐसे ही है, सम्राट्! तो हमारे बुद्धका ज्ञान अन्य बुद्धोंके ज्ञानकी अपेक्षा सूक्ष्मतामें कम होगा और इसका निश्चय लगाना कठिन है।"[1]

बौद्धशास्त्रके इस कथनसे यह स्पष्ट प्रकट है कि पूर्णज्ञान सर्वव्यापक और उसके अधिकारीमें सर्वथा सदा रहना चाहिये। जैन शास्त्रोंमें सर्वज्ञताकी यही व्याख्या की गई है। इस दशामें यह सहसा नहीं कहा जा सक्ता है कि म० बुद्धको बोधि वृक्षके निकट 'सर्वज्ञता' की प्राप्ति हुई थी। जिस प्रकार सर्वज्ञताकी व्याख्या

---

१. "...the insight of knowledge was not always and contisience (consciously) present with him. The omniscience of the Blessed One was dependent on reflection. But if he did reflect he krew whatever he wanted to know." Then it is said, " Buddha cannot have been omniscient, if this all-embracing knowledge was reached through investigation." Nagsen replied: " If so, Great King, our Buddha's knowledge must have been less in degree of fineness than that of other Buddhas. And that is a conclusion hard to draw."—Milinda-Panha (S. B. E. Vol. XXXV. P. 154.)

उक्त बौद्ध ग्रन्थमें की गई है उस प्रकार म० बुद्धका ज्ञान प्रकट नहीं होता। इसी हेतुसे हम इतना कहनेका साहस कर रहे हैं, वरन् वृथा ही किसीकी मान्यताको अस्वीकार करनेकी धृष्टता नहीं की जाती। तिसपर यह व्याख्या केवल उक्त बौद्ध ग्रन्थ पर ही अवलम्बित नहीं है; प्रत्युत म० बुद्धने स्वयं इस बातको स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया है। जब उनसे सर्वज्ञताके विषयमें प्रश्न हुआ तो उन्होंने टालनेकी ही कोशिश की थी।[1] एकवार राजा पसेनदीने उनसे पूछा कि:-

" अर्हतों (सर्वज्ञों) में कौन सर्व प्रथम है ? "

बुद्धने कहा कि " तुम गृहस्थ हो, तुम्हें इन्द्रिय सुखमें ही आनन्द आता है। तुम्हारे लिये संभव नहीं है कि तुम इस प्रश्नको समझ सको। "[2]

इसतरह यह प्रत्यक्ष प्रकट है कि बोधिवृक्षके निकट जिस दिव्यज्ञानके दर्शन म० बुद्धको हुये थे वह पूर्णज्ञान अथवा सर्वज्ञता नहीं थी; प्रत्युत उससे कुछ हेय प्रकारका वह ज्ञान था। जैन दृष्टिसे उसे हम अवधिज्ञान (विभंगावधि) कह सक्ते हैं। 'थेरीगाथा' की भूमिकामें बौद्धाचार्य म० बुद्धकी इस ज्ञानप्राप्तिके

---

१. महापरिनिब्बानसुत्त (S. B. E. Vol. XI.) पृष्ठ १४.
२. " He (King Pasenadi) once asked the Buddha, " who is the foremost among the Arahats ? " The Buddha replied, " You are a householder, you find delight in sensual pleasures. It will not be possible for you to unerstand this question. "—Samyuta-Nikâya. Pt. I. P.P. 78-79.

विषयमें कहते हैं कि 'इस समय रातके प्रथम प्रहरमें उन्होंने अपने पूर्व जन्मोंके वृतान्तोंको जान लिया, मध्यरातमें उनकी दिव्य दृष्टि पवित्र होगई, और अंतिम प्रहरमें कार्य कारणके सिद्धान्तकी तली तक पैठकर उन्होंने उसको जान लिया।'[1] इस कथनसे हमारे उक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। अवधिज्ञान द्वारा विचारकर किसी खास विषयकी परिस्थिति बतलाई जासक्ती है और अवधिज्ञानी अपने व किसीके भी पूर्वभव जान सक्ता है। इसप्रकार इसमें संशय नहीं कि म० बुद्धको बोधिवृक्षके निकट अवधिज्ञानकी प्राप्ति हुई थी।

इस तरह जब म० बुद्धको साधारण ज्ञानसे कुछ अधिककी प्राप्ति हुई, जो कि उनके जीवनकी एक अलौकिक और मख्यात घटना है, तो उनके भक्तोंने उनकी 'तथागत' या 'बुद्ध' कहकर ख्याति प्रकट की। भगवान महावीरका भी उल्लेख इन नामोंसे हुआ मिलता है, परन्तु उनकी जो 'तीर्थङ्कर' उपाधि थी, वह म० बुद्धसे बिलकुल विलक्षण और सार्थक है। म० बुद्धके निकट उसका भाव विधर्मी मत प्रवर्तकका था।[2] अस्तु।

जब म० बुद्धको 'सम्बोधी'की प्राप्ति हो चुकी तो उन्होंने उस समयसे धर्मप्रचार करना प्रारंभ नहीं किया था, उनको

१. "In the first watch of the night he recalled his former lives; in the middle watch he purified the eye celestial; in the last watch he sounded the depth of the knowledge of the Causal Law."
—Psalms of the Sisters. P. 5.

२. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ भूमिका XX.

संशय था कि शायद ही जनता उनके 'संदेश' को समझ सके। इसलिये वह कुछ समय तक एकान्तमें रहकर शान्तिका उपभोग करने लगे।[1] परन्तु अन्ततः वह अपनी इस कमजोरीको दूर करके धर्मप्रचारके लिये उद्यत हुए। बौद्ध कहते हैं कि इस समय स्वयं ब्रह्माने आकर उनको उत्साहित किया था।[2] अतएव अपने धर्मका प्रचार करनेका दृढ़ निश्चय जब उन्होंने करलिया, तो उनको इस बातकी फिकर हुई कि किस व्यक्तिको उपदेश देना चाहिये। इसपर उन्होंने अपने पूर्वगुरु 'आराद्कालाम'को इस योग्य पाया, किन्तु इसी समय किसी देवताने उनसे कहा कि आराद्कालामकी मृत्यु हो चुकी है। इसके साथ ही उन्होंने अपनी ज्ञानदृष्टिसे काम लिया तो यही बात प्रमाणित हुई।[3] फिर दूसरे गुरु उद्दकरामपुत्तके विषयमें भी यही घटना उपस्थित हुई[4]। अन्ततः उन्होंने

---

१. महावग्ग १, ५, १ (S B. E. Vol. XIII. P. 84.) २ बुद्धजीवन (S. B. E. XIX) पृष्ठ १४८... ३. "The Buddha thought-to whom shall I preach the doctrine first. He thought of his first teacher-Alâra Kâlâma, but a deity told that he died seven days ago...then 'Knowledge sprang up in the Blessed One's mind that Alâra Kâlâma died seven days ago.' Then he thought of his second Teacher Uddaka Ramputtâ, but the same fate turn out of him too." महावग्ग १,६,१-५. (S. B. E. Vol. XIII P. 89). इस कथनसे भी म० बुद्धका ज्ञान पूर्णज्ञान प्रगट नहीं होता; प्रत्युत उस अवधिज्ञानकी पुष्टि होती है जिसका उल्लेख हम पहिले कर चुके हैं। ४. पूर्व १,६,४.

उन पांच ऋषियोंको उपदेश देना उचित समझा जिनके साथ उन्होंने छः वर्ष तक घोर तपश्चरण किया था। उस समय उन पांचोंको ऋषिपट्टन–बनारस में स्थित जानकर म० बुद्ध उस ही ओर प्रस्थान कर गये।[1] सम्बोधीके पश्चात् म० बुद्धने अपने आप आहार करना नियम विरुद्ध समझा था। इसलिये उनका प्रथम आहार तपुस्स और भल्लिक वणिकोंके यहां मार्गमें हुआ था।[2]

उक्त प्रकार जब म० बुद्ध बनारसको अपने धर्मप्रचारके लिये जा रहे थे, तो मार्गमें उनको एक 'उपाक' नामक आजीवक भिक्षु मिला था। इसके पुछनेपर उन्होंने अपनेको 'सम्बुद्ध' प्रकट

---

१. महावग्ग १,६,५ बनारसके निकट ऋषिपटनमें उक्त पांचों ऋषियोंका रहना, जो संभवतः जैन मुनि थे, इस बातका द्योतक है कि यह स्थान जैन मुनियोंकी तपश्चर्याका मुख्य केन्द्र था। इसकी पुष्टि उत्तरपुराणके इस कथनसे होती है कि भगवान पार्श्वनाथने बनारसके निकट अवस्थित वनमें दीक्षा ग्रहण की थी और यहींपर उनको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। इस अवस्थामें यह स्थान जैनमुनियोंकी पल्ली हो तो कोई विस्मय नहीं। मज्झिमनकायमें म० बुद्धने एक 'ऋषिगिरि' का उल्लेख किया है और वहां जैन मुनियोंका होना बतलाया है। (P. T. S. Vol. 1. P. P.92–93). यदि 'ऋषिपटन' और 'ऋषिगिरि' एक ही स्थान है तो हमारे उक्त अनुमानका यह एक और प्रमाण है। साथ ही 'बुद्धजीवन' (S. B. E. XIX. P. 168)में इस स्थान (बनारस) को 'प्राचीन ऋषियोंका निवास स्थान' (Where dwelt the ancient Rishis) बतलाया है, अतएव इसका जैनस्थान होना बिल्कुल स्पष्टसा मालूम होता है। २. महावग्ग १।५ (S. B. E. XIII. P. 82) भगवान महावीर प्रबुद्ध होनेके उपरांत कवलाहार नहीं करते थे। उनकी सत्तामेंसे वेदनीय कर्मके अभाव हो जानेसे इसकी आवश्यका नहीं रही थी।

किया था, परन्तु उस भिक्षुकको इस कथनपर संतोष नहीं हुआ। उसने कहा, 'जो आप कहते हैं शायद वही ठीक हो।'[1] आखिर वह बनारस पहुंचगये। वहां ऋषिपट्टनमें उन्होंने अपने पूर्व परिचयके पांच ऋषियोंको पाया। पहिले पहिल उन्होंने म० बुद्धके कथनपर विश्वास नहीं किया और उनका उल्लेख सामान्य रीतिसे 'मित्र'के रूपमें किया।[2] इसपर म० बुद्धने विशेषरीतिसे उनको समझाया और आश्वासन दिया एवं अपनेको 'तथागत' कहनेका आदेश किया।[3] तब उन्होंने म० बुद्धके कथनको स्वीकार किया और उन्हें अपना गुरु माना। इनमें मुख्य कौन्डिन्य कुलपुत्रको सर्व प्रथम म० बुद्धके 'मध्यमार्ग' में श्रद्धान हुआ इसलिये वे ही म० बुद्धके पहिले अनुयायी थे।[4] उपरान्त यहीं 'यश' नामक वणिकपुत्रको भी बुद्धने चमत्कार दिखलाकर अपने मतमें दीक्षितकर भिक्षु बनाया था। इस समय म० बुद्धके अनुयायी सात थे और इनको वे 'अर्हत्' कहते थे।[5] भगवान महावीरको भी मनुष्येतर दिव्य शक्तिकी प्राप्ति थी; परन्तु उन्होंने न कभी किसीको अपना शिष्य बनानेकी इच्छा की और न इस शक्तिका उपयोग इस ओर किया। इस प्रकार जब म० बुद्धके अनुयायी ६१ (अर्हत्) होगये तब उनने भिक्षुओंसे कहा कि "हे भिक्षुओं! मैं मानवी दैवी सब बन्धनोंसे मुक्त हुआ हूं। हे भिक्षुओं! तुम भी मानवी और दैवी सब बन्धनोंसे मुक्त हुए हो। अब तुम, हे भिक्षुओ! अनेकों

१. महावग्ग १।६।८ (पृष्ट ९१) २. महावग्ग १।६।९. ३. महावग्ग १।६।१२. (पृष्ठ ९२). ४. महावग्ग १।६।२० और 'बुद्धजीवन' (S. B. E. XIX) पृष्ठ १७२. ५. महावग्ग १।७।८ (पृष्ठ १०२)

शिष्योंके लाभके लिये, अनेकोंकी भलाईके लिये, संसारपर दया लाकर, मनुष्यों और देवोंके लाभ और भलाईके लिये जाओ।"[1] इस समय 'मार' नामक देवताने आकर पुनः म० बुद्धको अपने धर्म-प्रचार करनेसे रोका, परन्तु उन्होंने उपेक्षा की और अपने भिक्षुओंको स्वयं ही अन्य शिष्य दीक्षित करने—'उपसम्पदा' देनेका अधिकार देकर चहुंओर भेज दिया।[2]

अतएव यह स्पष्ट है कि म० बुद्धने तत्कालीन अवस्थाको सुधारनेके भावसे अपने धर्मका नींवारोपण किया था। उन्होंने प्रचलित रीति रिवाजोंको लक्ष्य करके विना किसी भेदभावके मनुष्योंको अपने धर्ममें दीक्षित करनेका द्वार खोल दिया था। इससे सामाजिक वातावरणमें भी सुधार हुआ था। तथापि उनका पूर्ण लक्ष्य अपने धर्मको स्थापित करनेमें प्रचलित साधु धर्मका सुधार करनेका था। उस समय साधुगण आपसी शास्त्रार्थों और वादोंमें ही समयको नष्ट कर देते थे। वर्षभरमें वे तीन चार महीनोंके सिवाय शेष सर्व दिनोंमें सर्वथा इधर उधर विचर कर सैद्धांतिक वादविवादोंमें ही प्रायः

---

१. "I am delivered, O Bhikkhus, from all fetters, human and divine. You, O Bhikkhus, are also delivered from all fetters, human and divine Go ye now, O Bhikkhus, and wander, for the gain of the many, for the welfare of the many, out of compassion for the world, for the good, for the gain, and for the welfare of gods and men. etc." (Mahavagga. I, II, I). २. महावग्ग १।११।२ और १।१२।१.

व्यस्त रहते थे।[1] इसी कारण म० बुद्धने इन साधुओंको इस रोगसे छुड़ाकर आत्मस्थितिको प्राप्त करानेके लिये सैद्धांतिक विवेचनका सर्वथा विरोध किया। विरोध ही नहीं प्रत्युत उसको आत्मोन्नतिके मार्गमें अर्गला स्वरूप घोषित किया। यह बतलाया कि वाद-विवादमें आत्मशुद्धि नहीं है। स्पष्ट कहाः—

'या उन्नतीसास्स विघातभूमि, मानातिमानम् वदते पनयेसो।
एतमपि दिसवा न विवादयेथ, नहि तेन सुद्धिम् कुसलवदंति
॥ ८१० ॥ सुत्तनिपात ॥*

भावार्थ-"जो वाद एक समय वादीके हर्षका कारण है, वही उसके परास्त होनेका स्थल होगा, इसपर भी वह मान और घमंडके

---

१. "There were teachers or sophists who spent eight or nine months of every year wandering about precisely with the object of engaging in conversational discussions on matters of ethics and philosophy, nature lore and mysticism. Like the sophists among the Greeks, they differed very much in intelligence, in earnestness and in honesty."—Buddhist India P. 141. *भगवान महावीरके धर्ममें भी कोरे सिद्धान्तिक वादविवादको हेयदृष्टिसे देखा गया है। जैनाचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरके निम्न श्लोक इसी बातको प्रकट करते हैं:—

" क्व च तत्त्वाभिनिवेशः क्व च संरम्भातुरेक्षणं वदनम्।
क्व च सा दीक्षा विभवनीयरूपतानृजुर्वादः ॥ २ ॥
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादि वृषाः।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ ७ ॥ "

आवेशमें वाद करता है। इसको देखते हुये, किसीको भी वाद नहीं करना चाहिये; क्योंकि कुशल पुरुष कहते हैं कि इसके द्वारा शुद्धि नहीं होती।" इस प्रकार मुख्यतः उस समयकी परिस्थितिको लक्ष्य करके उन्होंने सैद्धांतिक वादविवादको अनावश्यक बतलाया, परन्तु उस समयके शास्त्रीय वातावरणको वह एकदम पलट न सके। आखिर स्वयं उनको भी सैद्धांतिक बातोंका प्रतिपादन गौणरूपमें करना ही पड़ा, यह हम अगाड़ी देखेंगे, किन्तु यह स्पष्ट है कि म० बुद्धका उद्देश्य सामयिक परिस्थितिको सुधार कर लोगोंको जाहिरा शांतिमय जीवन व्यतीत करनेका मार्ग सुझाना था। उनका सांसारिक जीवन सुविधामय साधु जीवन हो, यही उनको इष्ट था। सांसारिक बंधनोंमें पड़े हुये लोगोंको गृहस्थीमेंसे निकाल कर इस मार्गपर लगाना ही उनका ध्येय था। वह येनकेन प्रकारेण मनुष्योंके वर्तमान जीवनको सुविधापूर्ण सुखमय देखना चाहते थे।[1] उनके संघके भिक्षु–भिक्षुणी भी इस ही प्रकारके सुधारक थे। 'थेरगाथा' की भूमिकामें यही कहा गया है कि "ये बौद्ध भिक्षु सामयिक सुधारके लिये कटिबद्ध थे। वे जनताको धर्म, प्रेम, सादा जीवन व्यतीत करने, यज्ञ सम्बन्धी हिंसासे दूर रहने और जाति-पांतिके बन्धनोंकी उपेक्षा करनेके उपदेश देते थे।"[2] इसतरह म० बुद्धने जिस धर्मकी नींव

१. डॉ० कीथकी "बुद्धिस्ट फिलॉसफी" पृष्ठ ६३. २. "They (Buddhist recluses) stood for the social reforms of their day, teaching goodness, amity, the simple life, the abolition of sacrificial and other slaughter, and of the barriers of rank and caste." —The Psalms of Brethren. Intro XLVII.

डाली थी, वह वस्तुतः प्रारम्भमें एक सामयिक सुधारकी लहर ही थी!

वास्तवमें म० बुद्धका 'मध्य मार्ग' 'जिसका प्रतिपादन उन्होंने सर्व प्रथम बनारसमें किया था। एक तरहसे हिन्दुओंकी जाति व्यवस्था और जैनियोंकी कठिन तपश्चर्याके विरोधके सिवा और कुछ न था। कमसे कम प्रारम्भमें तो वह एक सैद्धांतिक धर्म नहीं था। इसकी घोषणा निम्नरूपमें म० बुद्धने स्वयं की थी:—

"हे भिक्षुओ, दो ऐसी अति हैं जिनसे गृहत्यागियोंको बचना चाहिये। यह दो अति क्या हैं? एक आमोद प्रमोदमय जीवन; वह जीवन जो केवल इन्द्रियजनित सुख और वासनाके लिये हो; यह नीच बनानेवाला है। इन्द्रियजनित, उपेक्षाके योग्य और लाभरहित है और अन्य तपश्चरणमय जीवन है; यह पीड़ामय उपेक्षाके योग्य और लाभरहित है। इन दोनों अतिसे बचनेपर हे भिक्षुओ, तथागतको 'मध्यमार्ग' का ज्ञान प्राप्त हुआ है; जो बुद्धि, ज्ञान, शांति, सम्बोधि, और निर्वाणका कारण है।"[1]

इस कथनसे स्पष्ट है कि म० बुद्धने उस समय प्रचलित मतमतान्तरोंके मध्य 'माध्यमिक' बनकर एक 'मझोला'—मध्यमका मत स्थापित किया था। इसमें उनका पूर्ण लक्ष्य अपने लिये एवं उन भाइयोंके लिये, जो उनके मतको माननेके लिये तैयार थे किसी रीतिसे भी पीड़ाका अन्त कर देना था।[2] इसलिये यथार्थमें 'मध्यमार्ग' एक ओर तो कर्मयोगके रूपमें प्रचलित अनियमित सांसारिक साधुजीवनके, जिसमें सब ही सांसारिक कार्य बिना

---

१ महावग्ग १।६।१७. २. मि० कीथकी 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी' पृष्ठ ६२.

फलप्राप्तिकी इच्छाके किये जाते थे, और दूसरी ओर तपश्चरणके मध्य एक ' राज़ीनामा ' था ।[1]

यह भासित होता है कि म० बुद्धने अपने मतके सिद्धान्तोंकी आर्षता और वैज्ञानिकताकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने सैद्धान्तिक विवेचनमें पड़नेको एक झंझट समझा। बस उनका ध्येय एक मात्र वर्तमान जीवनकी पीड़ाके दारुण क्रन्दनसे लोगोंको हटानेका था। इसीलिये उन्होंने तपश्चरणको भी एक पीडोत्पादक अति समझा, और कहा कि:- " दुःख बुरा है और उससे बचना चाहिये। अति (Excess) दुःख है। तप एक प्रकारकी अति है, और दुःखवर्धक है। उसके सहन करनेमें भी कोई लाभ नहीं है। वह फलहीन है। "—(ERE. Vol. II P. 70).

किन्तु म० बुद्धने तपश्चरण किस अनियमित ढंगसे किया था, यह हम देख चुके हैं। वह श्रावककी आवश्यक क्रियाओंका अभ्यास किये विना ही साधुजीवनमें कमाल हासिल करना चाहते थे। आर्योंके उत्कृष्ट ज्ञानकी तीव्र आकांक्षा रखकर-उसको पानेका निदान बाँधकर वह तपश्चरणका अभ्यास कररहे थे। इस दशामें तपश्चरण पूर्ण कार्यकारी नहीं हो सक्ता था। पर्वतकी शिखरपर पहुंचनेके लिये सीढ़ियोंकी आवश्यक्ता है और फिर जब संतोषपूर्वक उन सीढ़ियोंका सहारा लिया जायगा तब ही मनुष्य शिखिर पर पहुंच सक्ता है। मालूम पड़ता है कि म० बुद्धने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इस ही कारण वह उसके द्वारा पूर्णताको प्राप्त न कर सके। परन्तु तो भी उनका यह प्रयास बिल्कुल विफल नहीं गया

१. ' कॉन्फ्लूयन्स ऑफ ऑपोज़िटस ' पृष्ठ १४६.

था, यह हम देख चुके हैं। यदि म० बुद्धने इस ओर ध्यान दिया होता तो वस्तुतः हम उनसे और कुछ अधिक ही उत्तम वस्तु पाते! भगवान महावीरने एक नियमित रीतिसे साधुजीवनका अभ्यास किया था और व्यवस्थित ढंगसे तपश्चरणका पालन किया था। इसीलिये वह पूर्ण कार्यकारी हुआ, यह हम आगे देखेंगे। वैसे भगवान महावीरने भी ऐसे थोथे तपश्चरणको बुरा बतलाया है। उनके निकट वह केवल कायक्लेश और बालकोंका तप है।[1] परन्तु वह जानते थे कि ज्ञान ध्यानमय अवस्थाके साथ साथ परमपद प्राप्तिके लिये तपश्चरण भी परमावश्यक है। उनके निकट तपश्चर्या वह कीमियाई क्रिया थी जो आत्मामेंसे कर्ममलको दूर करके उसे बिल्कुल शुद्ध बना देती है। यह तपश्चर्या संसारी मनुष्यको पहिले पहिल तो अवश्य ही जरा कठिन और नागवार मालूम पड़ती है; परन्तु जहां मनुष्यको सम्यक् श्रद्धान हुआ वहां तत्काल ही इसकी आवश्यक्ता नजर पड़ जाती है और फिर इसके पालनमें एक अपूर्व आनन्दका स्वाद मिलता है। वस्तुतः मिहनतका फल भी मीठा होता

---

१. परमट्ठम्मिय अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धार यदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥ १५९ ॥
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठ बाहिरा जेण ते होंति अण्णाणी ॥१६०॥ कुन्दकुन्दाचार्य।
बौद्धोंके 'मज्झिम निकाय' (१२३७-२३८) में भी भगवान महावीरकी यह मानता स्वीकार की गई है। वहां सचक श्रावक स्पष्ट कहता है कि भगवान महावीरने कायक्लेशको ज्ञानसहित करना आवश्यक बतलाया था। दोनोंको अविनाभावी प्रकट किया था। (कायन्वयं चित्तं होति, चित्तन्वयो कायो होति)।

है। तपश्चरण एक परमोत्कृष्ट प्रकारकी मिहनत है, जिसका फल भी परमोत्कृष्ट है। अतएव पवित्र साधुजीवनका यह एक भूषण है। प्रत्येक मत-प्रवर्तकको इस भूषणको किसी न किसी रूपमें धारण अवश्य करना पड़ता है। म० बुद्धने अवश्य इसका विरोध किया परन्तु अन्ततः उनको भी इसे किंचित न्यूनरूपमें स्वीकार करना ही पड़ा![1]

इस तरह म० बुद्धकी ज्ञान प्राप्तिके तो दर्शन कर लिये, अब पाठकगण आइये, भगवान महावीरके ज्ञान प्राप्तिके दिव्य अवसरका भी दिग्दर्शन कर लें। भगवान महावीरने व्यवस्थित रीत्या श्रावक अवस्थासे ही संयमका अभ्यास करके मुनिपदको धारण किया था। मुनि अवस्थामें भी पहिले उन्होंने ढाई दिन (बेला)का उपवास किया था और फिर एक बारह वर्षके तपश्चरणकी परीषहोंको उन्होंने सहन किया था। इस प्रकार क्रमवार आत्म-उन्नति करते हुये वे इस १२ वर्षके तपश्चरणको पूर्ण करके विचर-रहे थे, कि वैशाख सुदी दसमीके दिन वे जृम्भक ग्रामके बाहर ऋजुकूला नदीके वामतटपर एक सालवृक्षके नीचे विराजमान् हुये तिष्ठते थे। ज्ञान-ध्यानमें लीन थे। समय मध्याह्नका हो गया था! सूर्य अपने प्रचण्ड प्रकाशसे तनिक स्खलित हो चले थे। उसी समय इन भगवान महावीरको दिव्य केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई।[2] मानो इस परम प्रखर आत्मप्रकाशका दिव्य उदय जानकर ही उस समय दिनकर महाराजका भौतिक प्रकाश फीका पड़ चला था।

---

१. सुत्तनिपात (S. B. E.) पृष्ठ ६०, ६१, और १४६–१४८, एवं धम्मपद अध्याय १. २. जैनसूत्र (S. B. E) भाग १ पृष्ठ २०१ और उत्तरपुराण पृष्ठ ६१४.

भगवान महावीर उस सुवर्ण अवसरपर केवलज्ञानी हो गये। साक्षात् तीर्थङ्कर बन गये। तीनों लोककी चराचर वस्तुयें उनके ज्ञाननेत्रमें झलकने लगीं। वे सर्वज्ञ हो गये।[1] त्रिलोकवंदनीय बन गये! ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंका उनके अभाव हो गया; इसलिये वे संसारमें ही साक्षात् परमात्मा होगये—सयोग केवली बन गये। उस समयसे एक क्षणके लिये भी उनका ज्ञान मन्द न पड़ा! वह ज्योंका त्यों प्रकाशमान् रहा और यूं ही हमेशा रहेगा! यही दिव्यजीवन है! परमोत्कृष्ट प्रकाश है! साक्षात् ज्ञान, शांति और सुख है!

जिससमय भगवान महावीर सर्वज्ञ हुये, उस समय संसारमें अलौकिक घटनायें घटित होने लगीं; जिससे भगवानको सर्वज्ञताका लाभ हुआ जानकर देवलोकके इन्द्र और देवतागण वहां उनके निकट आनन्दोत्सव मनाने आये थे। भगवानकी वन्दना उन्होंने अनेक प्रकारकी थी। हम भी उस दिव्य अवसरका स्मरण करके मन, वचन, कायकी विशुद्धतासे भगवानके पवित्र ज्ञानवर्द्धक चरणोंमें नतमस्तक होते हैं।

उसी समय इन्द्रने भगवानका सभाभवन—समवशरण रचदिया था, जिसकी विभूतिका वर्णन जैन ग्रन्थोंमें खूब मिलता है।[2] इसी समवशरणकी गंधकुटीमें अंतरीक्ष विराजमान होकर भगवान महावीर सर्व जीवोंको समान रीतिसे कल्याणकारी उपदेश देते थे। इस समवशरणमें १२ कोठे थे, जिनमें ऋषिगणके उपरांत स्त्रियोंको आसन मिलता था। इनके बाद पुरुष और तिर्यंचोंके लिये स्थान

१. पूर्ववत्. २. महावीरचरित्र पृ० २६०-२६७.

नियत था। इस रीतिसे भगवानका उपदेश तिर्यंचोंतकको होता था। वस्तुतः भगवानके दिव्य उपदेशसे पशुओंको अपने प्राणोंका भय चला गया था। वे सुरक्षित और अभय हो गए थे। इस ही दैवी समवशरण सहित भगवान सर्वत्र विहार करते थे। इस विहा-रमें उनके साथ चतुर्निकायक संघ और मुख्य गणधर भी रहते थे। भगवानके सर्व प्रथम शिष्य और मुख्य गणधर वेदपारांगत प्रख्यात ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम थे।[1] भगवान महावीरने सनातन सत्यका उपदेश सर्व प्रथम इन्हींको दिया था। इनको मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्ति हुई थी और इन्होंने ही मुख्य गणधरके पदपर विराजमान होकर भगवानकी द्वादशाङ्ग वाणीकी रचना की थी।[2]

भगवान महावीरका उपदेश सनातन यथार्थ सत्यके सिवा और कुछ न था। उन्होंने अपनी सर्वज्ञता द्वारा सर्व वस्तुओंका यथार्थरूप विवेचित किया था इसलिये वस्तुस्थितिके अनुरूपमें ही उनका उपदेश था। उन्होंने किसी नवीन मतकी स्थापना नहीं की थी, बल्कि प्राचीन जैनधर्मको पुनः जीवित किया था। जैनधर्मका अस्तित्व उनसे भी पहिले विद्यमान था; परन्तु भगवान महावीरके समयमें उसको विशेष प्रधानता प्राप्त नहीं थी; इसलिये भगवान महावीरके समयानुसार उसका पुनः निरूपण हुआ था। यह सना-तन धर्म अव्याबाध सर्व सुखकारी और अमर जीवनको प्रदान करनेवाला था। जिस तरह वस्तुकी मर्यादा थी उसी तरह उसमें बताई गई थी। यही धर्म आज जैनधर्मके नामसे विख्यात है।

---

१. उत्तरपुराण पृष्ठ ६१४ और जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ पृष्ठ ४१ नोट २. २. उत्तरपुराण पृष्ठ ६१६.

इस तरह भगवान महावीर सर्वज्ञ थे और उनका धर्म यथार्थ सत्य था। यह मान्यता केवल जैनोंकी ही नहीं है, प्रत्युत बौद्ध और ब्राह्मण शास्त्र भी इस ही बातकी पुष्टि करते हैं।[1] एकबार म० बुद्धने स्वयं कहा था:—

"भाइयो! कुछ ऐसे सन्यासी हैं, (अचेलक, आजीविक, निगंथ आदि) जो ऐसा श्रद्धान रखते और उपदेश करते हैं कि प्राणी जो कुछ सुख दुःख व समभावका अनुभव करता है वह सब पूर्व कर्मके निमित्तसे होता है। और तपश्चरणसे, पूर्व कर्मके नाशसे, और नये कर्मोंके न करनेसे, आश्रवके रोकनेसे कर्मका क्षय होता है और इस प्रकार पापका क्षय और सर्व दुःखका विनाश है। भाइयो, यह निर्ग्रन्थ (जैन) कहते हैं....मैंने उनसे पूछा क्या यह सच है कि तुम्हारा ऐसा श्रद्धान है और तुम इसका प्रचार करते हो ....उन्होंने उत्तर दिया ..हमारे गुरु नातपुत्त सर्वज्ञ हैं....उन्होंने अपने गहन ज्ञानसे इसका उपदेश दिया है कि तुमने पूर्वमें पाप किया है, इसको तुम उग्र और दुस्सह आचारसे दूर करो और जो आचार मन वचन कायसे किया जाता है उससे आगामी जन्ममें बुरे कर्म कट जाते हैं....इस प्रकार सब कर्म अन्तमें क्षय हो जायंगे

१. बौद्ध शास्त्रोंमें निम्न स्थानोंपर भगवान महावीरकी सर्वज्ञता स्वीकार की गई है:—मज्झिमनिकाय १।२३८ और ९२-९३; अंगुत्तर-निकाय ३।७४; न्यायबिन्दु अध्याय ३। अन्तिममें सर्वज्ञताका निरूपण करके उदाहरणमें ऋषभ और वर्द्धमान (महावीर) का उल्लेख किया है: यथाः सर्वज्ञ आप्तोवा सज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् ॥ यथा। ऋषभ वर्धमानादिरिति।' (न्यायबिन्दु) ब्राह्मण उल्लेख केवल 'पंचतंत्र' (Keilhorn, V. I.) में मिलता है।

और सारे दुःखका विनाश होगा। इस सबसे हम सहमत हैं।"
(मज्झिम २।२१४)

इस उद्धरणमें स्पष्ट रीतिसे भगवान महावीरकी सर्वज्ञता और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्मसिद्धान्तोंको स्वीकार किया गया है। वास्तवमें भगवान महावीरने इन्हीं बातोंका उपदेश दिया था, जिनका उल्लेख उक्त उद्धरणमें हैं।[1] इसलिये यह भी प्रत्यक्ष है कि आज जो जैनधर्म प्राप्त है वह मूलमें वही है जिसका प्रतिपादन भगवान महावीरने किया था। हां, उसके बाह्यभेषमें अन्तर पड़ा हो तो कोई विस्मय नहीं!

भगवान महावीरकी सर्वज्ञताके संबंधमें आजकलके विद्वान् भी हमारे उपरोक्त कथनका समर्थन करते हैं। डॉ० विमलचरण लॉ एम० ए०, पी० एच० डी० आदि बौद्ध ग्रंथोंके सहारेसे लिखते हैं कि 'वे भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त केवलज्ञानके धारी, चलते-बैठने सोते-जागते सब समयोंमें सर्वज्ञ थे। वे जानते थे कि किसने किस प्रकारका पाप किया है और किसने पाप नहीं किया है। वे प्रख्यात् ज्ञात्रिक महावीर अपने शिष्योंके पूर्वभव भी बता सक्ते थे।'* आप ही बौद्धोंके 'संयुक्त निकाय' में लिखा बतलाते हैं कि 'ज्ञात्रि क्षत्रिय महावीर बहुत ही होशियार और परम विद्वान्, एक दातार पुरुष, चतुर्प्रकारसे इन्द्रियनिग्रहमें दत्तचित्त और स्वयं देखी सुनी वस्तुओंको बतलानेवाले थे। जनता उनको बहुत ही पूज्यदृष्टिसे देखती थी।'+ एक अन्य विद्वान्, बौद्धोंके

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ भूमिका पृष्ठ १५. * क्षत्र क्षत्रिय ट्राइब्स आफ ऐन्शियेन्ट इण्डिया पृ० ११८. + पूर्व पृ० १२०.

सिंहल मान्यताके आधारसे, भगवान महावीरके अनन्तज्ञानके संबंधमें कहते हैं कि 'वे महावीर अपनेको पापसे रहित बतलाते थे और यह घोषणा करते थे कि जिस किसीको कोई शंका हो अथवा किसी विषयका समाधान करना हो, वह हमारे पास आवे, हम उसको अच्छी तरह समझा देंगे।'× इसका भाव यही है कि भगवान प्राकृत रूपमें अपने धवल केवलज्ञानसे लोगोंका पूर्ण समाधान कर देते थे, वे पूर्ण सर्वज्ञ थे--उन्हें सशङ्क होनेको कोई कारण शेष नहीं था।

इस प्रकार भगवान महावीर और म० बुद्धके धर्मप्रवर्तक रूपमें भी एक समान दर्शन नहीं होते। भगवान महावीरने सर्वज्ञ होनेपर किसी नवीन मतकी स्थापना नहीं की थी। म० बुद्धने 'मध्यमार्ग' को बोधिवृक्षके निकट ज्ञान लेनेपर एक नवीन मतकी स्थापना की थी। जिसप्रकार प्रारम्भसे ही इन दोनों युगप्रधान पुरुषोंके जीवनमें कोई विशेष साम्यता नहीं थी, उसीप्रकार इस अवस्था भी हमको कोई समानता देखनेको नहीं मिलती। म० बुद्धने अपनी ३९ वर्षकी अवस्थासे ही अपने धर्मका प्रचार करना प्रारंभ कर दिया था;[१] और भगवान महावीरने तबतक कोई उपदेश नहीं दिया जबतक कि उन्होंने करीब ४२ वर्षकी अवस्थामें उक्त प्रकार सर्वज्ञता प्राप्त न कर ली![२] फिर धर्मप्रचारके लिये जो उन्होंने सर्वत्र विहार किया था, वह भी एक दूसरेसे बिल्कुल विभिन्न था।

× स्पेन्स हार्डी, मैनुअल ऑफ बुद्धिज्म पृ० ३०२. १. बुद्धजीवन (S. B. E) भाग १९. २. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ २६९ और भगवान महावीर पृष्ठ २१३.

म० बुद्धने बोधिवृक्षसे चलकर सर्व प्रथम बनारसमें उपदेश दिया था। और फिर वे क्रमशः उरुवेला, गयासीस, राजगृह, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, राजगृह, कोदनावत्थु, राजगृह, श्रावस्ती, राजगृह, बनारस, भद्दिय, श्रावस्ती, राजगृह, श्रावस्ती, राजगृह, बनारस, अन्धकबिन्दु, राजगृह, पाटलिगाम, कोटिगाम, नातिका, आपन, कुसीनारा, आतुम, श्रावस्ती, राजगृह, दक्षिणागिरि, वैशाली, बनारस, श्रावस्ती, चम्पा, कोशाम्बी, पारिलेय्यक, श्रावस्ती, बालकालोन्करगाम, वेलुव, कुसीनारामें विचरते रहे थे।[1] बनारसमें ही उन्होंने शिष्योंको 'उपसंपदा' देने–शिष्य बनानेकी आज्ञा दे दी थी। गयासीसमें जब मौजूद थे तब उनके शिष्योंकी संख्या एक हजार थी।[2] पहिले ही राजगृहमें जब पहुंचे तब संजयके शिष्य सारीपुत्त और मौद्गलायन उनके मतमें दीक्षित हुये। इनके विषयमें हम पहिले ही लिख चुके हैं। इसके बाद ही उन्होंने 'उपाध्याय' और 'आचार्य' पद नियुक्त किये परन्तु इन दोनोंके कर्तव्य एक थे।[3] यह एवं अन्य क्रियायें म० बुद्धने अन्य मतोंमें प्रचलित रीतियोंके प्रभावानुसार स्वीकृत की थीं। इसी समय उन्होंने शाक्यवंशी व्यक्तियोंके लिये खास रियायत करनेका भी आदेश दिया था।[4] फिर द्वितीय बार जब श्रावस्तीसे वे राजगृह आये तो राजा श्रेणिक बिम्बसारके आग्रहसे 'तित्थियों' की भांति अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णमासीके दिनोंपर एकत्रित होकर उपदेश देनेका आदेश भिक्षुओंको दिया।[5] इसके

---

१. महावग्ग (S. B. E.) में जिस प्रकार यह विवरण दिया है वैसे ही यहांपर दिया गया है। २. महावग्ग (S. B. E.) पृष्ठ १३४. ३. पूर्व पृष्ठ १५३ और १७८. ४. पूर्व पृष्ठ १९१. ५. महावग्ग (S. B. E.) पृष्ठ २४०.

बाद फिर जब वह राजगृह आये तब लोगोंके बातें करनेपर उन्होंने 'वर्षाऋतु' मनानेके लिये भिक्षुओंको एक स्थानपर ठहरनेका नियम बनाया।[१] यह नियम 'तित्थिय भिक्षुओं' द्वारा पहिले ही स्वीकृत था। उपरान्त अन्धकविन्दमें जब म० बुद्ध थे तब उनके साथ १२५० भिक्षु थे।[२] फिर जब आपनसे कुसीनाराको वे गये तो उनके साथ केवल २५० भिक्षु रह गये थे।[३] यहांसे जब आतुम होते हुये वे श्रावस्ती पहुंचे, तब भिक्षुओंमें परस्पर मत भेद और विवाद खड़ा हो गया था[४] और जिस समय वे कौशाम्बीमें मौजूद थे, उस समय उनके झगड़ेने विकटरूप धारण कर लिया था। यहांतक कि म० बुद्धके समझाने पर भी वे न माने. और उनसे स्पष्ट कह दिया कि 'आप शांतिसे अपने प्राप्त सुखका उपभोग कीजिये। हम लोग अपने आप निबट लेंगे!'[५] म० बुद्ध इनको भला बुरा कहकर बालकलोङ्कारगॉमको चले गये। यहांपर एक बागवानने बगीचेमें जानेसे उनको टोका था।[६] फिर म० बुद्ध पारिलेय्यक और श्रावस्तीको गये थे। अन्तिम 'वस्सा' उन्होंने वैशालीके निकट अवस्थित वेलुवमें बिताई थी और अन्ततः कुसीनारामें वह प्राप्त हुये थे।[७] वेलुवमें कोई कठिन रोगसे वे पीड़ित हुये थे। उस रोगको उन्होंने अपने योगबलसे शमन किया था। इस रोगसे मुक्त होकर जब वे कुसीनाराको जा रहे थे, तो मार्गमें

१. पूर्व (३।२।२) पृष्ठ २९८ २. महावग्ग (S. B. E. VI. 25. 2.) भाग २ पृष्ठ ८०. ३ पूर्व (VI 36) पृष्ठ १२८. ४. पूर्व (VI. 39) पृष्ठ १४०. ५. पूर्व (X 2. 3.) पृष्ठ २९३... ६. पूर्व (X. 4. 7.) पृष्ठ ३१३. ७. बुद्धिस्टसुत्त (S. B. E. XI.) पृष्ठ ३४.

चन्ड लुहारके यहां उन्होंने सुअरके मांसके सोरवेका अन्तिम भोजन किया था।[1] अन्ततः कुशीनारामें उन्होंने शिष्योंको उपदेश दिया था और आनन्दसे कहा था कि:—

"अतएव हे आनन्द! तुम अपने आप अपने तईं प्रकाश-रूप बनो। अपने आपको ही अपनी शरण समझो। किसी बाह्य-शरणका आसरा न ताको। सत्यको प्रकाशरूप जानकर उसको ही अच्छी तरह गृहण करो। उसी सत्यको त्राणदाता जानो। अपने आपके सिवा किसी अन्यमें शरणकी लालसा मत रक्खो।"[2]

इसी अवसरपर आनन्दने किसी प्रख्यात् नगर चम्पा आदिमें अपने अन्तिम दिवस व्यतीत करनेका आग्रह म० बुद्धसे किया था। इसपर म० बुद्धने कुसीनाराकी पूर्व विभूतिका स्मरण कराकर आनन्दको शान्त किया था।[3] वस्तुतः यहांपर उन्होंने आनन्दके तीव्र मोहको अपनेमेंसे हटानेके लिये यह सब उपदेश दिये थे। आखिर उन्होंने अपने अन्तिम जीवनका समय निर्दिष्ट करते हुये आनन्दसे कहा था:-

"आनन्द! अब तुम कुसीनारामें जाकर कुसीनाराके मल्ल-राजाओंसे कहो, 'आजके दिन, हे वासेट्ठगण, रात्रिके अन्तिम पहरमें तथागतका सर्व अन्तिम मरण होगा। हे वासेट्ठगण, कृपालु होओ, यहां कृपालु होओ। इसके बाद अपने आपको यह कहनेको अवसर न दो, हमारे ही ग्राममें तथागतकी मृत्यु हुई और हमने तथागतके अन्तिम समयमें दर्शन न कर पाये'।"[4]

---

१. महापरिनिब्बानसुत्त ४। १८-१८ (बुद्धिस्टसुत्त S. B. E. XI. पृष्ठ ७८). २. बुद्धिस्टसुत्तस पृष्ठ ३८—महापरिनिब्बान सुत्त २।३३. ३. पूर्व पृष्ठ ९९. ४. 'Go now, Anan'a, and enter in'o

इस हीके अनुरूपमें म० बुद्धका जीव उस रात्रिको इस नश्वर शरीरको त्याग गया। उनके अनुयायियोंने उनके शरीरकी अन्त्येष्ठ क्रिया की। उपरान्त बौद्धशास्त्र कहते हैं कि लिच्छवि, मल्ल, कोलिय, शाक्य आदि क्षत्रिय राजाओंने उनके शरीरकी भस्मको मंगवाकर, उसकी स्मृतिमें स्तूप बनवाये थे। इस तरह म० बुद्धका धर्मप्रचार और अन्तिम समय पूर्ण हुआ था।

भगवान महावीरने भी अपने समवशरणकी विभूति सहित सर्वत्र विहार किया था। दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रोंमें इसमें भी अन्तर अवश्य है, परन्तु वह कुछ विशेष महत्व नहीं रखता। श्वेताम्बर शास्त्र उसका उल्लेख वर्षाऋतु व्यतीत करनेके रूपमें करते हैं। दिगम्बर कहते हैं कि तीर्थङ्करावस्थामें वर्षाऋतु व्यतीत करनेकी आवश्यक्ता नहीं, क्योंकि तीर्थङ्कर भगवानका शरीर इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा होना बिल्कुल असंभव है। अतएव श्वे० के अनुसार " भगवान महावीरने प्रथम चातुर्मास अस्थिकग्राममें, फिर तीन चातुर्मास चम्पा

Kusinârâ and inform the Mallas of Kusinârâ, saying, 'This day, O Vasetthas, in the last watch of the night, the final passing away of the Tathagata will take place. Be favourable herein, O Vasetthas, be favourable. Give no occasion to reproach yourselves hereafter, saying, In our own village did the death of our Tathagata take place, and we took not the opportunity of visiting the Tathagata in his last hours."

—Mahâparinibbâna Sutta. V. 45.

और पृष्टिचम्पामें, बारह वैशाली और वाणिज्यग्राममें, चौदह राज-गृह और नालन्दमें, छै मिथिलामें, दो भद्रिकामें, एक आलभिकामें, एक पनितभूमिमें, एक श्रावस्तीमें, एक पावामें राजा हस्तिपालकी कचहरीमें व्यतीत किये थे।"[1] और दिगम्बरी व शास्त्र इसप्रकार बतलाते हैं कि "जिसप्रकार भव्यवत्सल भगवान ऋषभदेवने पहिले अनेक देशोंमें विहार कर उन्हें धर्मात्मा बनाया था उसी प्रकार भगवान महावीरने भी मध्यके (काशी, कौशल, कौशल्य, कुसंध्य, अश्वष्ट, त्रिगर्तपंचाल, भद्रकार, पाटच्चार, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन एवं वृकार्थक), समुद्रतटके (कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, बाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गांधार, सौवीर, सूर, भीरु, दशेरुक, वाडवान, भरद्वाज और क्वाथतोय) और उत्तरदिशाके (तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल, आदि) देशोंमें विहार कर उन्हें धर्मकी ओर ऋजु किया था।"[2] महावीरपुराणके अनुसार विदेहमें (वज्जि राजसंघमें) राजा चेटकने भगवानके चरणोंका आश्रय लिया था। अंगदेशके शासक कुणिकने भी भगवानकी विनय की थी और वह कौशाम्बी तक भगवानके साथ२ गया था। कौशाम्बीमें वहांके नृपति शतानीकने भी भगवानकी उपासना की थी और वह अन्तमें भगवानके संघमें सम्मिलित होगया था। मगधेश श्रेणिक भगवानके अनन्य भक्त थे और इन्हींकी राजधानी राजगृहमें भगवानने अधिक समय व्यतीत किया था। राजपुरके सुरमलय उद्यानमें जिससमय भगवान विराजमान थे, उससमय

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ २६४. २. हरिवंश-पुराण (कलकत्ता संस्करण) पृष्ठ १८.

वहांके राजा जीवंधरने दीक्षा गृहण की थी।[1] तथापि जिससमय भगवान सर्व प्रथम राजगृह नगर आये थे, उस समय वेदपारांगत विद्वान इन्द्रभूति गौतम उनके साथ थे। इनके अतिरिक्त और बहुतसे ब्राह्मण और क्षत्री राजपुत्र तथा वणिक सेठ आदि भगवानके विहार और धर्मप्रचारसे प्रबुद्ध हुए थे। राजकुमार अभय, शतवाहन आदि मुनिधर्ममें लीन हुए थे। ज्येष्ठा, चन्दना सदृश राजकुमारियां भी आर्यिका हुई थीं। राजगृहके सेठ शालिभद्र, धन्यकुमार, प्रीतंकर आदि महानुभाव वणिकोंमेंसे परम पुरुषार्थके अभ्यासी हुए थे। अन्तमें धर्मप्रचार करते हुए भगवान पावापुर पहुंचे थे और वहींसे उन्होंने मोक्षलाभ किया था।

नोट—कुछ लोगोंका ख्याल है कि भगवान महावीरका धर्म भारतमें ही सीमित रहा था; परन्तु यह उनका कोरा ख्याल ही है। अन्वेषकोंने बतला दिया है कि जैनमुनि यूनान, रूम और नार्वे जैसे सुदूर देशोंमे धर्मप्रचारके लिये गये थे। (देखो भगवान महावीर पृ० ७) अफ्रीकाके अबेसिनिया प्रदेशमें यूनानियोंको जैनमुनि (Gymnosophists) मिले थे। ऐशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ पृ० ६) यूनानमें आजतक एक जैनमुनिका समाधिस्थान वहांकी राजधानी अथेन्समें मौजूद है। यह जैनमुनि श्रमणाचार्य नामक थे और भृगुकच्छसे गये थे। (इंडियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली भाग २ पृ० २९३) मध्यऐशियामे भी जैनधर्म फैला हुआ था, यह भी प्रकट है। (डुबोई, डिस्क्रीपशन आफ कैरेक्टर....ऑफ इंडियन पीपुल,

१. उत्तरपुराण पृष्ठ ६९१ २ सुत्तनिपात (S. B. E.) पृष्ठ १८८.

भूमिका) इन्डोचाइना (Indo-China) में भी जैनधर्मके अस्तित्वके चिन्ह मिलते हैं। वहांके सन् ९१८के एक शिलालेखमें राजा भद्रवर्मन तृतीयको जिनेन्द्रके सागरका एक मीन लिखा है तथा जैनाचार्यकृत काशिकावृत्ति व्याकरणका उसे पारगामी बताया है। (इंडि० हिस्टा० क्वार्टर्ली भाग १ पृ० ६०९) तथापि जावासे एक ऐसी मूर्तिके दर्शन वि० बा० चम्पतरायजीने बरलिनके अजायब घरमें किये हैं, जो जैन मूर्तियोंके समान है। अतएव इन थोड़ेसे उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि जैनधर्म भारतमें ही सीमित नहीं रहा था। बौद्ध धर्मकी तरह वह भी एक समय विदेशोंमें फैला था।

इसप्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनोंही इस बातको प्रगट करते हैं कि भगवान महावीरकी मोक्षप्राप्तिका स्थान पावा है। यह नगरी धनसम्पदामें भरपूर मल्ल राजाओंकी राजधानी थी।[1] यहांके लोग और राजा हस्तिपाल भगवान महावीरके शुभागमनकी बाट जोह रहे थे। इसलिये म० बुद्धके अन्तिम समयके बरअक्स भगवान महावीरको कोई खबर कहींको नहीं भेजने पड़ी थी। वस्तुतः भगवान कृतकृत्य हो चुके थे, इच्छा और वाञ्छासे परे पहुंच चुके थे इसलिये उनके विषयमें ऐसी बातें बिल्कुल ही संभव नहीं थीं। श्रीगुणभद्राचार्यजी भगवानके अन्तिम दिव्य जीवनकालका वर्णन निम्नप्रकार करते हैं:—

" क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनांतरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥ ५०२ ॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥५१०॥

१ सुत्तनिपात (S. B. E.) १०।८८.

स्वातियोगे तृतीयेद्धशुक्लध्यानपरायणः ।
कृतत्रियोगसंरोधसंमुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥५११॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः ।
गता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितं ॥५१२॥ ”

भावार्थ–“ विहार करते २ अन्तमें वे (भगवान) पावापुर नगरमें पहुंचे और वहांके मनोहर नामके वनमें अनेक सरोवरोंके मध्य महामणियोंकी शिलापर विराजमान हुये। विहार छोड़कर (योगनिरोधकर) निर्जराको बढ़ाते हुए वे दो दिन तक वहां विराजमान रहे और फिर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अंतिम समयमें स्वाति नक्षत्रमें तीसरे शुक्लध्यानमें तत्पर हुये। तदनन्तर तीनों योगोंको निरोधकर समुच्छिन्नक्रिया नामके चौथे शुक्लध्यानका आश्रय उन्होंने लिया और चारों अघातिया कर्मोंको नाशकर शरीर रहित केवल गुणरूप होकर एकहजार मुनियोंके साथ सबके द्वारा वाञ्छनीय ऐसा मोक्षपद प्राप्त किया।”

इसप्रकार मोक्षपदको प्राप्तकर पुरुषार्थके अंतिम अनन्तसुखका उपभोग वे उसी क्षणसे करने लगे। भगवानके इस अंतिम दिव्य अवसरके समय भी स्वर्गलोकके इन्द्र और देवतागण आये थे और उन्होंने मोहको नाश करनेवाले भगवानके शरीरकी पूजा वंदना की थी। इस समय भी अलौकिक घटनायें घटित हुईं थीं और अंधेरीरात्रिमें एक अपूर्व प्रकाश चहुंओर फैल गया था। अन्ततः उन देवोंने उस पवित्र शरीरको अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटसे प्रगट हुई अग्निकी शिखामें स्थापन किया था। इसी अवसरपर

१. उत्तरपुराण पृष्ठ ७४४-७४५.

आसपासके प्रसिद्ध राजा लोग भी पावापुरमें पहुंचे थे और वहां-पर दीपोत्सव मनाया था। 'कल्पसूत्र'में इनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है:—

"उस पवित्र दिवस जब पूज्यनीय श्रमण महावीर सर्व सांसारिक दुःखोंसे मुक्त हो गये तो काशी और कौशलके १८ राजाओंने, ९ मल्ल राजाओंने और ९ लिच्छवि राजाओंने दीपोत्सव मनाया था। यह प्रोषधका दिन था और उन्होंने कहा—'ज्ञानमय प्रकाश तो लुप्त हो चुका है, आओ भौतिक प्रकाशसे जगतको दैदीप्यमान बनायें।" [१]

मानो उस समय आजकलके भौतिकवादके प्रकाशकी ही भविष्यद्वाणी उन राजाओंने की थी। इस प्रकार उस दिव्य अवसरके अनुरूप आजतक यह दीपोत्सवका त्योहार चला आरहा है।

भगवान महावीरके परमश्रेष्ठ लाभकी पुण्य स्मृति और पवित्रता इस त्योहारमें गर्भित है। इस तरह भगवान महावीर और म० बुद्धके अन्तिम जीवनका वर्णन है। भगवान महावीरके दर्शन साक्षात् परमात्मारूपमें होते हैं। वस्तुतः उनका यह जीवन अनुपम था। उनके जीवनसे म० बुद्धके जीवनकी तुलना करना एक निष्फल क्रिया है, परन्तु जब संसार दोनों व्यक्तियोंको समानता देता है तो तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्यक ही था।



---

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ठ २६६.

(५)

पारस्परिक कालनिर्णय ।

भगवान महावीर और म० बुद्धके पारस्परिक जीवनका हम तुलनात्मक रीतिसे अध्ययन कर चुके हैं और हमने उसमें कहीं भी साम्यता नहीं पाई है। प्रत्युत जीवन घटनाओंकी विभिन्नता ही सर्वथा दृष्टि पड़ती रही है। ऐसी अवस्थामें यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर और म० बुद्ध एक ही व्यक्ति न होकर दो समकालीन युगप्रधान पुरुष थे। समकालीन अवस्थामें भी इनके जीवनोंका पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, यह जानना भी आवश्यक है, परन्तु भारतीय इतिहास जितना अस्पष्ट और अंधकारमय है उसको देखते हुये आजसे करीब ढाईहजार वर्ष पहिले हुये युगप्रधान पुरुषोंके पारस्परिक जीवन सम्बन्धोंका ठीक पता लगा लेना बिल्कुल असम्भव बात है। तो भी जो साहित्यसामग्री उपलब्ध है उसका आश्रय लेकर हम इस विषयमें एक निर्णयपर पहुंचनेका प्रयत्न करेंगे।

यह हमको मालूम है कि भगवान महावीरको निर्वाणलाभ उस समय प्राप्त हुआ था जब वे करीब बहत्तर वर्षके थे[1]। और म० बुद्धका 'परिनिव्वान' जैसा कि बौद्ध कहते हैं, उनकी अस्सी वर्षकी अवस्थामें हुआ था[2]। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि म० बुद्धकी उमर भगवान महावीरसे अधिक थी। अब इन दोनों युगप्रधान पुरुषोंके जन्म समयमें कितना अन्तर था, यह जानना शेष

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग १ पृष्ट २६९. २ बुद्धिस्ट सुत्तस (S. B. E.) पृष्ट ९६–१०१.

है। उनका पारस्पारिक जन्म-अंतर प्राप्त होनेके साथ ही हमको उनकी अन्य जीवनघटनाओंका सम्बन्ध स्पष्टतः ज्ञात हो जायगा।

इस विषयमें डॉ० हार्नलेसाहबने विशेष अध्ययनके उपरांत यह निर्णय प्रगट किया है कि भगवान महावीरके निर्वाणलाभके पश्चात पांच वर्षतक म० बुद्ध और जीवित रहे थे[1]। इस मान्यताको मान देते हुये हमें म० बुद्धका जन्म भगवान महावीरके जन्मसे तीन वर्ष पहिले हुआ प्रमाणित मिलता है। दूसरे शब्दोंमें डॉ० हार्नलेसाहबकी गणनाके अनुसार म० बुद्ध भगवान महावीरके जन्म समय तीन वर्षके थे, उनके गृहत्यागके अवसरपर वे तेतीस वर्षके थे और जब भगवान महावीरने अपनी करीब बियालीस वर्षकी अवस्थामें सर्वज्ञता प्राप्त कर चुकनेपर उपदेश देना प्रारम्भ किया तब वे प्रायः पैंतालीस वर्षके थे। इसी तरह जब म० बुद्धने अपनी पैंतीस वर्षकी उमरमें 'मध्यमार्ग' का उपदेश देना प्रारम्भ किया था, तब भगवान महावीर करीब तेतीस वर्षके थे। इसप्रकार डॉ० हार्नलेकी मान्यताके अनुसार इन दोनों युगप्रधान पुरुषोंके पारस्परिक सम्बंध ज्ञात होते हैं, किन्तु इनको विशेष प्रमाणिक जाननेके लिये डॉ० हार्नलेसाहबकी गणनाके औचित्यपर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

डॉ० हार्नले साहब जो इस गणनापर पहुंचे हैं वह विशेष प्रमाणोंको लिये हुये है। तथापि उनकी इस गणनाका समर्थन ऐतिहासिक साक्षीसे भी होता है। प्रो० कर्न सा० के मतानुसार सम्राट

१. आजिवकूस, हैस्टिंग्सका इन्साइक्लोपेडिया ओफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स.

श्रेणिक बिम्बसारकी मृत्यु उस समय हुई थी जब म० बुद्ध बहत्तर वर्षके थे और देवदत्त द्वारा जो बौद्ध संघमें विच्छेद खड़ा हुआ था वह इस घटनासे कुछ ही काल उपरान्त उपस्थित हुआ था[१]। साथ ही मज्झिमनिकायके अभय राजकुमार सुत्तसे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीरको बौद्ध संघके इस विच्छेदका ज्ञान था।[२] दि० जैन शास्त्रोंसे भी इस व्याख्याकी पुष्टि इस तरह होती है-उनमें लिखा है कि सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारकी मृत्युके साथ ही कुणिक अजातशत्रु विधर्मी-मिथ्यात्वी होगया और रानी चेलनीने भगवान महावीरके समवशरणमें जाकर आर्या चंदनाके निकट दीक्षा ग्रहण की। इससे यह साफ प्रकट है कि भगवान महावीर इस समय विद्यमान् थे और बौद्धोंके सामयगामसुत्त[४] और पाठिकसुत्तसे[५] यह प्रमाणित ही है कि भगवान महावीरके निर्वाणलाभके उपरान्त कुछ कालतक म० बुद्ध जीवित रहे थे। इसलिये वह अधिकसे अधिक पांच वर्ष ही जीवित रहे होंगे, क्योंकि बौद्ध और जैन दोनोंके मतसे सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारकी मृत्युके समय भगवान महावीर मौजूद थे। और जब म० बुद्ध इस समय ७२ वर्षके थे तो भगवान महावीर अवश्य ही करीब ६९ वर्षके थे। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीरके निर्वाणलाभ करनेके बाद म० बुद्ध पांच वर्षसे अधिक जीवित नहीं रहे थे।

इसके अतिरिक्त हम म० बुद्धके बाल्यपनके विवरणमें देख

---

१ इन्डियन बुद्धिस्म पृष्ठ ३८-३९. २ हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृष्ठ ७८. ३ मेरा भगवान महावीर पृष्ठ १५२. ४ मज्झिमनिकाय भाग २ (P. T. S.) पृष्ठ २४३. ५ दीर्घनिकाय (P. T. S.) भाग ३.

चुके हैं कि म० बुद्ध जो उस सुकुमार अवस्थामें चार प्रकारके लक्षण धारण करते थे, उनमें तीन तो जैन तीर्थङ्करोंके चिह्न थे, परन्तु चौथा स्वयं भगवान महावीर वर्द्धमानका नाम था। इससे यह झलकता है कि उस समय भगवानका जन्म नहीं हुआ था। यदि जन्म हुआ होता तो उनका उल्लेख भी चिह्नरूपमें होता, क्योंकि जन्मसे ही तीर्थङ्कर भगवानके पगमें यह चिह्न होता है। अतएव इससे भी म० बुद्धका जन्म म० महावीरसे पहिले हुआ प्रमाणित होता है।

डॉ० हार्नले सा०की गणनाका समर्थन उस कारणको जाननेसे भी होता है, जिसकी वजहसे म० बुद्धके ६० से ७० वर्षके मध्य जीवनकी घटनाओंका उल्लेख नहींके बराबर ही मिलता है। रेवरेन्ड बिशप बिगन्डेट साहबका कथन है कि यह अन्तराल प्रायः घटनाओंके उल्लेखसे कोरा है। (An almost blank)[1] अतएव इस अभावका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। अब यदि यहां भी हम डॉ० हार्नलेसाहबकी उक्त गणनाको मानता देखें तो यह कारण भी ज्ञात होजाता है; क्योंकि जब भगवान महावीरने अपना धर्म-प्रचार प्रारम्भ किया था उस समय म० बुद्ध अपने धर्मकी घोषणा करचुके थे और अनुमानतः ४९ वर्षके थे जैसे कि हम देखचुके हैं। अतएव पांच वर्षके भीतर भीतर भगवान महावीरके वस्तु स्थितिरूप उपदेशका दिगन्तव्यापी हो जाना बिल्कुल प्राकृत है। इस दशामें यदि इन पांच वर्षोंमें म० बुद्धका प्रभाव प्रायः उठसा

---

१ लाइफ एण्ड लीजेन्ड ऑफ गौतम—और के० जे० सान्डर साहबका "गौतम बुद्ध" पृ० ४१.

जावे और उनकी ५० वर्षकी उमरसे ७० वर्षतक कोई पूर्ण घटनाक्रम न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं है। यही समय भगवान महावीरके धर्मप्रचारका था। इसलिये म० बुद्धके जीवनके उक्त अंतरालकालकी घटनाओंके अभावका कारण भगवान महावीरका सर्वज्ञावस्थामें प्रचार करना ही प्रतिभाषित होता है। इस अवस्थामें हमको डॉ० हार्नलेसाहबकी उक्त गणना इस तरह भी प्रमाणित मिलती है और यह प्रायः ठीक ही है कि भगवान महावीरके निर्वाणोपरान्त म० बुद्ध अधिकसे अधिक पांच वर्ष और जिये थे।

किन्तु उक्त प्रकार म० बुद्धकी जीवनघटनाओंके अभावका कारण निर्दिष्ट करते हुये बौद्ध शास्त्रकारके इस कथनका भी समाधान करलेना आवश्यक है कि म० बुद्धके दिव्य धर्मोपदेशके समक्ष निगन्थ नातपुत्त (महावीर) का प्रभाव क्षीण होगया, जो पहिले विशेष प्रभावको लिये हुये था[1]। बौद्ध शास्त्रकारके इस कथनके समान ही जैनाचार्यने भी यही बात भगवान महावीरके विषयमें कही है कि उनके धर्मोपदेशके उदय होते ही एकान्तमत अंधकारमें विलीन होगये[2]। इस दशामें यह दोनों कथन एक दूसरेके

---

१ फॉस्बल्स जातक भाग ३ पृ० १२८ और हिस्टोरीकलग्लीनिंग्स पृ० ७८.

२ "तव जिनशासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशासनविभवः स्तुवंति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ॥ १३७ ॥
अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितय विरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥ १३८ ॥
त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रंथिकसत्वाशयप्रणामामहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥ १३९ ॥
बृहद् स्वयंभूस्तोत्र ।

विरुद्ध पड़ते हैं, परन्तु उक्त प्रकार म० बुद्धकी जीवनघटनाओंके अभावका कारण भगवान महावीरका प्रबल धर्मप्रभाव मानते हुये, हमें जैनाचार्यका कथन यथार्थताको लिये हुये मिलता है; परन्तु ऐतिहासिकताके नाते हम बौद्ध शास्त्रकारके कथनको भी एकदम नहीं भुला सक्ते हैं। बात वास्तवमें यों मालूम देती है कि जिस समय भगवान महावीरका धर्मप्रचार होता रहा, उस समय अवश्य ही उनके प्रभावके समक्ष शेष धर्म अपनी महत्ताको खो बैठे, जैसे कि जैनाचार्य कहते हैं और जो म० बुद्धके सम्बन्धमें ऊपर एवं निम्नकी भांति प्रमाणित होता है, परन्तु जब भगवान महावीरका निर्वाण होनेको था तब हमको मालूम है कि राजा कुणिक अजातशत्रु जैनधर्मके विमुख होगया था[१]। इसके जैनधर्म विमुख होनेका कारण सम्राट् श्रेणिककी अकाल मृत्यु और वज्जियन राज्यपर आक्रमण करना कहे जा सक्ते हैं; क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वी सम्राट् श्रेणिकके मरणका कारण बनकर एवं भगवान महावीरके पितृ और मातृकुलोंपर आक्रमण करके सम्राट् कुणिक अजातशत्रु अवश्य ही जैनियोंद्वारा घृणाकी दृष्टिसे देखा जाने लगा होगा। ऐसे अवसरपर बौद्ध भिक्षु देवदत्त, जिसका सम्बन्ध इनसे पहिलेका ही था, यदि अजातशत्रुको बौद्धानुयायी बनाले तो कोई अद्भुत बात नहीं है, अतएव सम्राट् कुणिक अजातशत्रुके बौद्ध हो जानेसे मगध और अंगका

---

१. उत्तरपुराणमें लिखा है कि जब भगवान महावीर मोक्ष चले गए और सुधर्मास्वामी प्रचार करते राजगृह आए तब फिर कुणिक अजातशत्रुने जैनधर्म धारण किया था। (पृष्ट ७०२) और अंग्रेजी जैनगजट भाग २१ पृष्ट २५४. २. के. जे. सौन्डर्स "गौतमबुद्ध" पृष्ट ७१.

राजधर्म, जो पहिले जैनधर्म था, अवश्य ही बौद्धधर्म हो गया। और यह भगवान महावीरके शासनकी प्रभावनामें एक खासा धक्का था। फिर लगभग इस समयके कुछ बाद ही भगवान महावीरका निर्वाण हुआ था यह हमारे ऊपरके कथनसे प्रगट है। इसके साथ ही कुछ समयके उपरान्त आजीवकोंके संरक्षक राजा पद्मद्वारा जैनियोंका सताया जाना,[1] अवश्य ही ऐसे कारण हैं, जो हमें इस बातको माननेके लिये बाध्य करते हैं कि वीरशासनका प्रभाव भगवान महावीरके उपरान्त अवश्य ही किंचित फीका पड़ गया था! और इस तरहपर बौद्धाचार्यका कथन भी ठीक बैठ जाता है। अतएव जैन और बौद्धाचार्योंके उपरोल्लिखित मत हमारी इस मान्यतामें बाधक नहीं हैं कि भगवान महावीरके दिव्योपदेशके कारण म० बुद्धका प्रभाव बहुत कुछ कम होगया था कि जिससे उनके जीवनके उस अन्तराल–कालका प्रायः पूरा पता नहीं चलता! उधर भगवान महावीरके दिव्य प्रभावको बौद्धाचार्य स्वीकार करते ही हैं। अस्तु,

'भगवान महावीरके धर्मोपदेशका विशेष प्रभाव म० बुद्धके जीवनमें आड़ा आया था, इसका समर्थन स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंसे भी होता है। देवदत्तद्वारा जो विच्छेद बौद्ध संघमें भगवानमहावीरके निर्वाणकालके दोतीन वर्ष पहिले ही खड़ा हुआ था, वह भी हमारी व्याख्याकी पुष्टि करता है। देवदत्तने म० बुद्धसे भिक्षुओंको दैनिक क्रियाओंको अधिक संयममय बनानेको, एवं मांसभोजनकी मनाई करनेको कहा था।[2] इस ही पर बौद्ध संघमें विच्छेद

१. आजीविकव भाग १ पृष्ठ ५८. २ साम्डर्स 'गौतमबुद्ध' पृष्ठ ७२-७३.

खड़ा हुआ था। अब यह स्पष्ट ही है कि उस समय सिवाय भगवान महावीरके अन्य कोई प्रख्यात् मतप्रवर्तक ऐसा नहीं था जिसने अहिंसा धर्मके महत्वको पूर्ण प्रगट किया हो और मांस खानेको पापक्रिया बताई हो[1]। बौद्धोंके मांस-भक्षण और साधु अवस्थामें भी शिथिलता रखनेके लिये जैन शास्त्रोंमें उनपर कटाक्ष किये गये हैं[2]। तथापि बौद्ध संघके इस विच्छेदके कितने ही वर्षों पहिलेसे भगवान महावीर अहिंसा और तपस्याका उपदेश देही रहे थे। इस अवस्थामें यह स्पष्ट है कि बौद्ध संघमें यह विच्छेद भगवान महावीरके दिव्योपदेशके कारण ही खड़ा हुआ था। इसके साथ ही बौद्धोंके 'महावग्ग' से विदित होता है कि इसी समय म० बुद्धके पास एक बौद्ध भिक्षु नग्न होकर आया था और नग्नावस्थाकी विशेष प्रशंसा करके बौद्ध साधुओंको उसे धारण करनेकी आज्ञा देनेकी उनसे प्रार्थना करने लगा था[3]। यह भी हमारी व्याख्याका समर्थन करता है, क्योंकि उस समय म० महावीरके दिव्योपदेशसे दिगंबरता (नग्नत्व) का प्रभाव विशेष बढा था और यही कारण म० बुद्धके साथ भिक्षुओंकी संख्याके

---

१. उस समय शेषमें ब्राह्मण, आजीविक, अचेलक आदि संप्रदाय थे। सो इनमें किसीको मांससे परहेज नहीं था। ब्राह्मण लोग खुले रूपमें मांसा-भिषिक्त क्रियाको मान दे रहे थे। आजीविक भी मांस खाना बुरा नहीं समझते थे यह बौद्धों और जैनोंके शास्त्रोंसे प्रकट है। अचेलक-मत-प्रवर्तक पुन्य-पाप कुछ मानते ही नहीं थे, सो मांस खाना उनके निकट भी दुष्क्रिया नहीं होसक्ती। इस तरह उस समय भगवान महावीरने ही इसको दुष्क्रिया प्रगट किया था। २. जैन सूत्र (S. B. E.) भाग २ पृष्ठ ४१४. ३. महावग्ग (S. B. E) ८.२८ पृष्ठ २४५

घटनेका मालूम पड़ता है। हम पूर्व परिच्छेदमें देख चुके हैं कि जब म० बुद्ध अन्धकविन्दमें थे तब उनके साथ १२५० भिक्षु थे, परन्तु बौद्ध संघ विच्छेद अवसरके लगभग ही जब वे आपनसे कुसीनाराको गये थे तब उनके साथ सिर्फ ५० भिक्षु रह गये थे। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय भगवान महावीरके धर्मकी मान्यता जनतामें विशेष हो गई थी,[1] जिसका प्रभाव म० बुद्ध और उनके संघपर भी पड़ा था।

वास्तवमें जैन तीर्थङ्करके जीवनमें केवलज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त करके धर्मोपदेश देनेका ही एक अवसर ऐसा है जो अनुपम और अद्भुत प्रभावशाली है। इस बातकी पुष्टि प्राचीनसे प्राचीन उपलब्ध जैनसाहित्यसे होती है। अतएव उक्त प्रकार जो हम भगवान महावीरके इस दिव्य अवसरका दिव्य प्रभाव म० बुद्ध और उनके संघ पर पड़ा देखते हैं सो उसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। तीर्थंकर भगवानका विहार समवशरण सहित और उनका उपदेश वैज्ञानिक ढंगपर होता है, क्योंकि

---

१. बौद्ध ग्रन्थ "चुल्लवग्ग" (VII 3, 14) में यह इस प्रकार स्वीकार किया गया है।

"The people believe in rough measures."

अर्थात्-साधारण जनता कठोर नियमोंमें विश्वास रखती है और यह विदित ही है कि जैनियोंने बौद्धोंपर उनके शिथिल साधु जीवनके कारण कटाक्ष किये थे, अतएव यहांपर परोक्ष रीतिसे भगवान महावीरके सिद्धान्तोंका प्रभाव स्वीकार किया गया है। इसी बौद्ध ग्रंथमें अगाड़ी यह भी कहा गया है कि लोग म० बुद्धपर आरामसे जीवन व्यतीत करनेका लाञ्छन लगाने लगे थे। (VIII. 3. 16) इससे स्पष्ट है कि इस समय अवश्य ही भगवान महावीरका दिव्योपदेश जनताके हृदयमें घर कर गया था।

वे सर्वज्ञ होते हैं, जैसे कि हम भगवान महावीरके विषयमें देख चुके हैं। तथापि सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवानकी पुण्य प्रकृतिके प्रभावसे ४०० कोसतक चहुंओर दुर्भिक्ष आदि दूर हो जाते हैं और उनके समवशरणमें मानस्तंभके दर्शन करते ही लोगोंका मिथ्या ज्ञान और मान काफूर होजाता है। इस दशामें अवश्य ही भगवान महावीरका दिव्यप्रभाव सर्वत्र अपना कार्य कर गया होगा, जैसा कि बौद्धग्रन्थोंसे झलकता है, अतएव म० बुद्धके जीवनपर भगवान महावीरका प्रभाव पड़ा व्यक्त करना बिल्कुल युक्तियुक्त मालूम होता है। यही कारण प्रतीत होता है कि म० बुद्ध ७२ वर्षकी अवस्थामें सामान्यरूपसे राजगृहमें आकर पूछकर एक कुम्हारके यहां रात्रि विताते हैं।[1]

इसके साथ ही भगवान महावीरके निर्वाणलाभके समाचार बौद्धसंघके लिये एक हर्षप्रद समाचार थे, यह बौद्धग्रन्थके निम्न उद्धरणसे प्रमाणित है। वहां लिखा है कि–

"पावाके चन्द नामक व्यक्तिने मल्लदेशके सामगांममें स्थित आनन्दको महान् तीर्थंकर महावीरके शरीरान्त होनेकी खबर दी थी। आनंदने इस घटनाके महत्वको झट अनुभव करलिया और कहा 'मित्र चन्द' यह समाचार तथागतके समक्ष लानेके योग्य हैं। अस्तु, हमें उनके पास चलकर यह खबर देना चाहिये।' वे बुद्धके पास दौड़े गए, जिन्होंने एक दीर्घ उपदेश दिया।"[2]

इस वर्णनके शब्दोंमें स्पष्टतः एक हर्षभाव झलकरहा है और

१. के० जे० सॉन्डर्स "गौतम बुद्ध" पृष्ठ ७५. २. पासादिक सुत्तन्त इन दी डॉयोलॉग्स ऑफ बुद्ध भाग ३ पृष्ठ ११२.

हर्ष तब ही होता है जब कोई बाधक वस्तु उद्देश्यमार्गमेंसे दूर हुई हो। इसलिए इससे भी साफ प्रकट है कि भगवान महावीरके धर्म-प्रचारके कारण बुद्धदेवको अवश्य ही अपने मध्यमार्गके प्रचारमें शिथिलता सहन करनी पड़ी थी और वह शिथिलता भगवान महा-वीरके निर्वाणासीन होते ही दूर होगई, जैसे कि हम पहिले देख चुके हैं। इस विषयमें एक प्राच्यविद्याविशारदका भी वही कथन है कि भगवान महावीरके निर्वाणलाभसे म० बुद्ध और उनके मुख्य शिष्य सारीपुत्तने अपने धर्मका प्रचार करनेका विशेष लाभ उठाया था।[1]

अतएव यह स्पष्ट है कि म० बुद्धके ५० से ७० वर्षके जीवन अंतरालके घटनाक्रमका प्रायः न मिलना भगवान महावीरके दिव्योपदेशके कारण था और इस दशामें डॉ० हार्नलेसाहेबकी उपरोल्लिखित गणना विशेष प्रमाणिक प्रतिभाषित होती है, जिसके कारण म० बुद्ध और भगवान महावीरके पारस्परिक जीवन संबन्ध वैसे ही सिद्ध होते हैं जैसे कि हम ऊपर डा० हार्नलेसाहिबकी गणनाके अनुसार देखचुके हैं, किन्तु बौद्धशास्त्रोंमें एक स्थानपर म० बुद्धको उस समयके प्रख्यात मतप्रवर्तकोंमें सर्वलघु लिखा है,[2] परन्तु उन्हींके एक अन्य शास्त्रमें म० बुद्ध इस बातका कोई स्पष्ट उत्तर देते नहीं मिलते हैं।[3] वह वहां प्रश्नको टालनेका ही प्रयत्न करते हैं। इससे यही विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है कि आयुमें भगवान महावीरसे तो कमसे कम म० बुद्ध अवश्य ही बड़े थे, परन्तु एक मत प्रवर्तककी भांति वे जरूर ही सर्वलघु थे; क्योंकि

१ क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट-इन्डिया पृष्ठ १७६. २. हिस्टॉरीकल ग्लीनिन्ग्स पृष्ठ ८४. ३. सुत्तनिपात (S. B. E. Vol. X.) पृष्ठ ८७.

अन्य सर्व मत म० बुद्धसे पहिलेके थे।[1] इस तरह भगवान महावीर और म० बुद्धके पारस्परिक जीवन संबन्ध वह ही ठीक जंचते हैं जो हम पूर्वमें बतला चुके हैं। अस्तु।

भगवान महावीर और म० बुद्धके पारस्परिक जीवन संबन्ध तो हमने जान लिये, परन्तु भगवान महावीरको मोक्षलाभ और म० बुद्धका 'परिनिव्वान', जैसा कि बौद्ध कहते हैं, कब हुआ यह जान लेना भी आवश्यक है। भगवान महावीरके निर्वाणलाभ कालके विषयमें तीन मत पाये जाते हैं। एकके अनुसार यह घटना ईसवी सन्‌से ५२७ वर्ष पहिले घटित हुई बतलाई जाती है।[2] दूसरेके मुताबिक यह ४६८ वर्ष पहिले मानी जाती है।[3] और तीसरा इसको विक्रमाब्दसे ५५० वर्ष पहिले घटित हुआ बतलाता है।[4] इनमें पहिले मतकी मानता अधिक है और जैन समाजमें वही प्रचलित है। दूसरा डॉ० जार्ल चारपेन्टियरका मत है, जिसका समुचित प्रतिवाद मि० काशीप्रसाद जायसवालने प्रगट करदिया है[5] और वस्तुतः बौद्ध शास्त्रोंके स्पष्ट उल्लेखोंको देखते हुये यह जीको नहीं लगता कि भगवान महावीरका निर्वाण म० बुद्धके उपरान्त हुआ हो। यह हमारे पूर्व जीवन संबन्ध विवरणसे भी बाधित है। और तीसरा मत श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीका है। उनके आधार देवसेनाचार्य

१. हिस्टॉरीकल ग्लीनिन्गुस पृष्ठ २१-३०. २. लाइफ ऑफ महावीर और जैनसूत्र (S B E भाग २ भूमिका. ३. इन्डियन एन्टीक्वेरी भाग ४१। ४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (माणिकचन्द ग्रन्थमाला) पृष्ठ १५०-१५२। ५. जैनसाहित्यसंशोधक प्रथम खंडके ४ थे अंकमें ऐसा उल्लेख है। शायद यह प्रतिवाद इन्डियन ऐन्टीक्वेरी भाग ४९ पृष्ठ ४३...में किया गया है।

और अमितगत्याचार्यके उल्लेख है, जिनमें समयको निर्दिष्ट करते हुये 'विक्रम नृपकी मृत्युसे' ऐसा उल्लेख किया गया है। इसके विषयमें जैन विद्वान् पं० युगलकिशोरजी लिखते हैं कि "यद्यपि, विक्रमकी मृत्युके बाद प्रजाके द्वारा उसका मृत्यु संवत प्रचलित किये जानेकी बात जीको कुछ कम लगती है, और यह हो सकता है कि अमितगति आदिको उसे मृत्यु संवत् समझनेमें कुछ गलती हुई हो, फिर भी ऊपरके उल्लेखोंसे इतना तो स्पष्ट है कि प्रेमीजीका यह मत नया नहीं है—आजसे हजार वर्ष पहिले भी उस मतको माननेवाले मौजूद थे और उनमें देवसेन तथा अमितगति जैसे आचार्य भी शामिल थे।"[1] इतना होते हुये भी हमें उपरोक्त जीवन संबन्ध विवरणको देखते हुये मुख्तार साहबसे सहमत होना पड़ता है। इसके साथ ही यह दृष्टव्य है कि 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति'में जहां अन्यमत वीरनिर्वाण संवत्में बतलाये गये हैं, वहां इसका उल्लेख नहीं है।[2] इस अवस्थामें देवसेनाचार्य और अमितगति आचार्यने भूलसे ऐसा उल्लेख किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं! जिसप्रकार हमने म० बुद्ध और भगवान महावीरका संबन्ध स्थापित किया है, उसको देखते हुये यही ठीक प्रतीत होता है।

अब रहा केवल प्रथम मत जो प्रायः सर्वमान्य और प्रचलित है। इस मतकी पुष्टिमें निम्न प्रमाण बतलाये जाते हैं:—

(१) सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठवरस बाललीला सोडसवासेहि भीम्मए देसे ॥१८॥

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (मा० ग्रं०) पृष्ठ १५१-१५२. २. पूर्व पृष्ठ १५३-१५४.

यह नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीकी एक गाथा है, और 'विक्रम-प्रबन्ध'में भी पायी जाती है। (जैनसिद्धान्तभास्कर किरण ४ पृ. ७९)

(२) णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥ ८२. ॥

यह गाथा आजसे करीब १९०० वर्ष पहिलेकी रची हुई 'तिलोयपण्णत्ति'की गाथा है और इसमें वीर निर्वाण प्राप्तिसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा हुआ ऐसा उल्लेख है।

(३) पण छस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुनवतियमहिय सगमासं ॥८५०॥

यह त्रिलोकसारकी गाथा है और इसमें 'तिलोयपण्णत्ति' की उपरोक्त गाथाकी भांति वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजाका और ३९४ वर्ष ७ महीनेबाद कल्किका होना बतलाया है।

(४) 'आर्य विद्यासुधाकर' में भी लिखा है:—

'ततः कलिनात्र खंडे भारते विक्रमात्पुरा।
स्वमुन्यं बोधि विमते वर्षे विराह्वयो नरः ॥ १॥ वीर
माचारज्जैनधर्मं बौद्धधर्मसमप्रभम्।

(५) सरस्वतीगच्छकी भूमिकामें भी स्पष्टरूपसे वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म होना लिखा है; यथा:—'बहुरि श्री वीरस्वामीकूं मुक्ति गयें पीछें च्यारसैसतर ४७० वर्ष गये पीछें श्रीमन्महाराज विक्रम राजाका जन्म भया।'

(६) नेमिचन्द्राचार्यके 'महावीर चरियं' (देखो "भारतके प्राचीन राजवंश" भा० २१–४२) में भी महावीरस्वामीसे ६०५ वर्ष ५ मास उपरान्त शक राजाका होना लिखा है।

यहां नं० १ और नं० ९ के प्रमाणोंमें बिल्कुल स्पष्ट रीतिसे वीरनिर्वाणके ४७० वर्ष उपरान्त विक्रमका जन्म होना लिखा है। और यह ज्ञात ही है कि वीरनिर्वाण ५२७ वर्ष पहिले जो ईसासे माना जाता है वह वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद नृप विक्रमका राज्यारोहण माननेसे उपलब्ध हुआ है क्योंकि यह प्रमाणित है कि नृप विक्रमका संवत् उनके १८ वर्षकी अवस्थामें राज्यारोहणसे प्रारम्भ होता है।[1] इस अवस्थामें स्वीकृत निर्वाणकालमें १८ वर्ष जोड़ना आवश्यक ठहरता है; क्योंकि उक्त गाथाओंमें स्पष्टरीतिसे वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म हुआ लिखा है। इस तरहपर प्रचलित वीरनिर्वाण सम्वत् शुद्ध रूपमे ईसासे पूर्व ५४५ वर्ष (५२७+१८) मानना चाहिये। इस ही मतको श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल और पं० विहारीलालजी बुलन्दशहरी प्रमाणिक बतलाते हैं। जैनदर्शनदिवाकर डॉ० जैकोबी भी इस मतको स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, जैसा उनके उस पत्रसे प्रकट है जो उन्होंने हमको लिखा था और जो 'वीर' वर्ष २ पृष्ठ ७८-७९में प्रकाशित हुआ है। इसके साथ ही अन्य प्रमाणोंमें कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ऐसी अवस्थामें यदि शकराजाका जन्म भी ६०५ वर्ष ५ महीने बाद वीरनिर्वाणसे माना जावे तो कुछ असंगतता नजर नहीं आती। इस दशामें वीरनिर्वाण ईसासे पूर्व ५२७ वर्ष पहिले माननेका शुद्ध रूप ५४५ वर्ष पहिले मानना उचित प्रतीत होता है। यह निर्वाणकाल हमारे उक्त पारस्परिक जीवन सम्बन्धमे भी ठीक बैठ जाता है; क्योंकि सिंहलबौद्धोंकी मानताके अनुसार म०

१ मदनकोष और भारतके प्राचीन राजवंश।

बुद्धका परिनिव्वान ईसासे पूर्व ५४१ वर्षमें घटित हुआ था। बौद्धोंकी इस मानताको लेकर विशेष गवेषणाके साथ आधुनिक विद्वानोंने इसका शुद्धरूप ईसासे पूर्व ४८० वां वर्ष बतलाया है, किन्तु खण्डगिरिकी हाथीगुफासे जो सम्राट् खारवेलका शिलालेख मिला है उससे बौद्धोंकी उक्त मानताका पूरा समर्थन होता है।[1] इस दशामें भगवान् महावीरका निर्वाणकाल ईसासे पूर्व ५४५ वर्ष पूर्व माननेसे और म० बुद्धका परिनिव्वान ईसासे पहिले ५४३वें वर्षमें हुआ स्वीकार करनेसे, हमारे उक्त जीवनसम्बन्ध निर्णयसे प्रायः सामञ्जस्य ही बैठ जाता है। क्योंकि स्वयं बौद्धोंके कथनसे प्रमाणित है कि म० बुद्ध भगवान महावीरके पहले ही अपनेको स्वयं बुद्ध मानकर उपदेश देने लगे थे। 'संयुक्तनिकाय' में (भाग ११–६८) में स्पष्ट कहा है कि बुद्ध अपनेको 'सम्मासंबुद्ध' कैसे' कहने लगे जब निगंथ नातपुत्त अपनेको वैसे नहीं कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारी पूर्वोक्त मान्यताके अनुसार म० बुद्ध भगवान महावीरके धर्मोपदेश देनेके पहले ही उपदेश देने लगे थे और इसतरह पूर्वोल्लिखित पारस्परिक संबंध ठीक ही है। हाँ, एक दो वर्षका अन्तर गणनाकी अशुद्धिके कारण रहा कहा जासक्ता है। अतएव आजकल भगवान महावीरका निर्वाण संवत् २४७१ वर्ष मानना विशेष युक्तिसंगत है।

'हिन्दी विश्वकोष' के निम्न कथनसे भी यही प्रमाणित है।

---

१ भारतके प्राचीन राजवंश भाग २ पृष्ठ १४. २ इन्डियन ऐन्टीक्वेरी XLVIII. 25 ff; 214 ff. & 29 ff. and XLIX. 43 ff. और JBORS. IV. 364 ff.; V. 88 ff.

वहां (भाग २ पृ० ३९०) पर लिखा है कि 'तीत्थुगलियपयन्न' और 'तीर्थोद्धार प्रकीर्ण' नामक प्राचीन जैनशास्त्रके मतसे जिस रातको तीर्थंकर महावीरस्वामीने सिद्धि पायी, उसी रातको पालक राजा अवन्तीके सिंहासनपर बैठे थे। पालकवंश ६०, उसके बाद नन्दवंश १५५, मोर्यवंश १०८, पुष्पमित्र ३०, बलमित्र एवं भानुमित्र ६०, नरसेन नबरवाहन ४०, गर्दभिल्ल १३ और शकराजने ४ वर्ष राजत्व किया। महावीरस्वामीके परिनिर्वाणसे शकराजके अभ्युदयकाल पर्यन्त ४७० वर्ष बीते थे। इधर सरस्वती गच्छकी पट्टावलीसे देखते, कि विक्रमने उक्त शकराजको हराया सही, किन्तु सोलह वर्ष तक राज्याभिषिक्त न हुए। उक्त सरस्वती गच्छकी गाथामें स्पष्ट लिखा है—"वीरात् ४९२, विक्रमजन्मान्त वर्ष २२, राज्यान्त वर्ष ४" अर्थात् शकराजके ४७० और विक्रमाभिषेकाब्दके ४८८ अर्थात् सन् ई० से ५४५-४ वर्ष पहिले महावीरस्वामीको मोक्ष मिला था।" अतएव यही समय निर्वाणकालका ठीक जंचता है।

इस प्रकार म० बुद्ध और भगवान महावीरकी जीवनघटनाओंका तुलनात्मक रीतिसे अध्ययन करनेपर हमने उनकी पारस्परिक विभिन्नताको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है और अब हम सुगमतासे उनके भिन्न व्यक्तित्व एवं समकालीन संबंधोंके विषयमें एक निश्चित मत स्थिर कर सक्ते हैं। इस विवेचनके पाठसे पाठकोंको उस मिथ्या मान्यताकी असारता भी ज्ञात हो जायगी जो इस उन्नतशील जमानेमें भी कहीं कहीं पर किये हुये है कि जैनधर्मकी उत्पत्ति बौद्धधर्मसे हुई थी अथवा म० बुद्ध और भगवान महावीर एक व्यक्ति थे।

यद्यपि यहांतकके विवेचनसे हम म० बुद्ध और म० महावीरके पारस्परिक जीवनसम्बन्धोंका दिग्दर्शन कर चुके हैं, परन्तु इससे दोनों युगप्रधान पुरुषोंने जो शिक्षा जनसाधारणको दी थी, उसका पूरा पता नहीं चलता है, इसलिए अगाड़ीके पृष्ठोंमें हम जैनधर्म और बौद्धधर्मका भी सामान्य दिग्दर्शन करेंगे।

(६)

भगवान महावीर और म० बुद्धका धर्म!

म० बुद्धने किस धर्मका निरूपण किया था, जब हम यह जाननेकी कोशिश करते हैं तो उनके जीवनक्रमपर ध्यान देनेसे असलियतको पा जाते हैं! वस्तुतः म० बुद्धका उद्देश्य आवश्यक सुधारको सिरजनेका था। इसलिये प्रारम्भमें उनका कोई नियमित धर्म नहीं था और न उन्होंने किसी व्यवस्थित धर्मका प्रतिपादन किया था, किन्तु अपने सुधारक्रममें उन्होंने आवश्यक्तानुसार जिन सिद्धान्तोंको स्वीकार किया था, उनका किंचित् दिग्दर्शन हम यहां करेंगे।

सर्व प्रथम उनके धर्मके विषयमें पूंछते ही हमें बतलाया जाता है कि "वह प्रकृतिके नियमोंको बतलाता है, मनुष्यका शरीर नाशके नियमके पल्ले पड़ता है; यही बुद्धका अनित्यवाद है। जो कुछ अस्तित्वमें आता है उसका नाश होना अवश्यम्भावी है।"[1] भगवान महावीरने भी धर्मका वास्तविक रूप वस्तुओंका प्राकृतिक स्वरूप ही

1 कीथ्‌ज 'बुद्धिस्टफिलोसफी' पृ० ६९-७०.

बतलाया था। कहा था "वस्तुस्वभाव ही धर्म है।"[1] और इसतरह जाहिरा यहांपर दोनों मान्यताओंमें साम्यता नजर पड़ती है; परन्तु यथार्थमें उनका भाव एक दूसरेके बिल्कुल विपरीत है। म० बुद्धके हाथोंसे इस सिद्धान्तको वह न्याय नहीं मिला जो उसे भगवान महावीरके निकट प्राप्त था। इसी कारण बौद्धदर्शनका अध्ययन करके सत्यके नाते विद्वानोंको यही कहना पड़ा है कि बुद्धके सैद्धान्तिक विवेचनमें व्यवस्था और पूर्णता दोनोंकी कमी है।[1] बुद्धके निकट सैद्धांतिक विवेचन संसारदुःखका कारण था।[2] ऐसी दशामें इन प्रश्नोंका वैज्ञानिक उत्तर म० बुद्धसे पाना नितान्त असम्भव है। इन प्रश्नोंको उनने 'अनिश्चित बातें' ठहराया था। जब उनसे पूछा गया कि:-

"क्या लोक नित्य है? क्या यही सत्य है और सब मत मिथ्या हैं?" उन्होंने स्पष्ट रीतिसे उत्तर दिया कि "हे पोत्थपाद, यह वह विषय है जिसपर मैंने अपना मत प्रकट नहीं किया है।" तब फिर इसी तरह पोत्थपादने उनसे यह प्रश्न किये। (२) क्या लोक नित्य नहीं है? (३) क्या लोक नियमित है? (४) क्या लोक अनन्त है? (५) क्या आत्मा वही है जो शरीर है? (६) क्या शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है? (७) क्या वह जिसने

---

१ 'धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ ४७६ ॥
स्वामि कार्तिकेयानुपेक्षा।

२ कीथ्स 'बुद्धिस्ट फिलोसफी-भूमिका. २ बुद्धिज्मः इट्स हिस्टरी एण्ड लिटरेचर पृ० ३९.

सत्यको जान लिया है मरणोपरान्त जीवित रहता है? (८) अथवा वह जीवित नहीं रहता है ? (९) अथवा वह जीवित भी रहता है और नहीं भी रहता है ? (१०) अथवा वह न जीवित रहता है और न वह नहीं जीवित रहता है ? और इन सबका उत्तर म० बुद्धने वही दिया जो उन्होंने प्रथम प्रश्नके उत्तरमें दिया था।[१] इस परिस्थितिमें यह स्पष्ट अनुभवगम्य है कि म० बुद्धने सैद्धांतिक विवेचनकी प्रारंभिक बातोंका स्थापन प्रकृतिके नियमोंके रूपमें पूर्ण रीतिसे नहीं किया था जैसाकि बतलाया जाता है। भगवान महावीरके विषयमें हम अगाड़ी देखेंगे।

अतएव जब कभी म० बुद्धके निकट ऐसी अवस्था उपस्थित हुई तो उनने उसका समाधान कुछ भी नहीं किया। बौद्धदर्शनके विद्वान् डॉ० कीथ बुद्धकी इस परिस्थितिको बिल्कुल उचित बतलाते हैं।[२] वह कहते हैं कि बुद्धने पहिले ही कह दिया था कि वह अपने शिष्योंको इन विषयोंमें शिक्षा नहीं देंगे। म० बुद्ध एक ऐसे हकीम हैं जो ऐसी शिक्षा देते हैं जिससे शिष्यका वर्तमान जीवन सुखमय बने, किन्तु वास्तवमें इन बातोंको अस्पष्ट छोड़ देनेसे बुद्धने लोगोंको अपने मनोनुकूल निर्णयको माननेकी स्वतंत्रता दी है और यह क्रिया एक 'माध्यमिक'के सर्वथा योग्य थी।

ऐसा प्रतिभाषित होता है कि बुद्धने वस्तुओंके स्वभाव पर केवल उनकी सांसारिक अवस्थाके अनुसार दृष्टिपात किया था। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'लोकमें कोई भी नित्य पदार्थ नहीं है

१ डायलोग्स आफ दी बुद्ध (S. B. B. Vol. II.) पृ० २५४.
२ कीथ 'बुद्धिस्ट फिलासफी पृ० ६२.

और न ऐसे ही पदार्थ हैं जिनका सर्वथा नाश होजाता है, प्रत्युत समस्त लोक एक घटनाक्रम है, कोई भी वस्तु किसी समयमें यथार्थ नहीं होसक्ती।[1] इसलिये ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आत्मा हो।[2] शरीर (रूप) आत्मासे उसी तरह रहित है जिस तरह गङ्गा नदीमें उतराता हुआ फेनका बबूला है।' (संयुतनिकाय ३-१४०). परन्तु विस्मय है कि बुद्धने एकान्तवाद--अनित्यताका भी निरूपण पूरी तरह नहीं किया है।[3] तो भी यह बतलाया गया है कि चार पदार्थ हैं:-(१) पृथ्वी (२) अग्नि (३) वायु और (४) जल। आकाश भी कभी २ गिन लिया गया है।[4] किन्तु म० बुद्धने उनको किस ढंगसे स्वीकार किया था यह ज्ञात नहीं है। केवल यह प्रकट है कि "प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ एक मिश्रण (संखार Compound) है, जो शरीरकी तरह किसी समयतक बना रहेगा, परन्तु अन्तमें नष्ट हो जावेगा। पदार्थ अनित्य है। प्रारंभिक बौद्ध धर्ममें वे क्षणिक स्वीकृत नहीं हैं। यह उपरान्तका सुधार है।"[5]

विशेषकर बुद्धके निकट लोक केवल अनुभवका एक पदार्थ था। उन्होंने इसकी नित्यता और अनन्तताके सम्बन्धमें कुछ कहनेसे साफ इन्कार कर दिया था, किंतु इतनेपर भी यह स्पष्ट है कि म० बुद्धने जो उक्त चार पदार्थोंको स्वीकार किया था सो उसमें उन्होंने यथार्थ वाद (Realistic View) को अन्ततः गौणरूपमें स्वीकार ही किया था।[6] इससे उनके विवेचन की अनियमितता भी प्रकट है।

१. कीथ 'बुद्धिष्ट फिलॉसफी' पृष्ठ ६४ और दी साम्स ऑफ दी ब्रदरन पृष्ठ ६८. २. की० बु० फि० पृष्ठ १३ और मिलिन्द-पन्ह २।१।१ (S.B E) पृष्ठ ४०. ३. की० बु० फि० पृष्ठ ५२. ४. पूर्ववत. ५ पूर्ववत. ६. पूर्व पृष्ठ ८५.

उक्त चार पदार्थोंके अतिरिक्त बुद्धने उनके साथ निर्वाण और विज्ञान (Conception of Consciousness) की गणना करके अपना सैद्धान्तिक मत छै तत्वोंपर प्रारम्भ किया था। विज्ञानमें दुःख और सुखको अनुभव करनेका भाव गर्भित था। यह सब पदार्थ नित्य ही थे और इनहीके पारस्परिक सम्बन्धसे संसारका अस्तित्व बतलाया था।[1]

इस सिद्धान्तविवेचनमें बुद्धसे प्राचीन मतोंका प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इनमें मुख्यतः ब्राह्मण और जैनधर्मका प्रभाव दृष्टव्य है। जो चार पदार्थ म० बुद्धने स्वीकार किये हैं वह ब्राह्मण धर्ममें पहिलेसे ही स्वीकृत थे इसलिए वह उन्होंने वहांसे लिये थे।[2] परन्तु उन्होंने उनको जिस ढंगसे प्रतिपादित किया है वह जैनधर्मकी लोकमान्यतासे मिलता जुलता है। जैनियोंके अनुसार भी छै द्रव्योंकर युक्त यह लोक है, परन्तु यह छै द्रव्य म० बुद्ध द्वारा स्वीकृत छै तत्वोंसे बिल्कुल भिन्न थे जैसे हम अगाड़ी देखेंगे। इसके अतिरिक्त बुद्धने जो धर्मकी व्याख्या की थी वह भी सामान्यतया जैन व्याख्यासे मिलती जुलती थी, जैसे कि हम देख चुके हैं। फिर बुद्धने जो उसके दो भेद आभ्यन्तिरिक (अज्झत्तिक) और बाह्य (बाहिर) किये थे,[3] वह भी सामान्यतः जैन सिद्धान्तके निश्चय और व्यवहार धर्मके समान हैं।[4] किन्तु फर्क यहां भी विशेष मौजूद है, क्योंकि बौद्धोंके निकट इनका सम्बन्ध सिर्फ बाह्य जगत और मानसिक सम्बन्धोंसे है,* और जैन सिद्धान्तमें इनके अलावा

---

१. पूर्व पृष्ठ ५४–५५. २. पूर्व पृष्ठ ५२. ३. कीथ बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ ७४. ४. तत्वार्थसूत्र (S.B.J. II) पृष्ठ १५.
*बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ ७४.

पदार्थके वास्तविक स्वरूपसे भी यह सम्बन्धित हैं। इससे यह साफ प्रकट है कि म० बुद्धने केवल जैनियोंके व्यवहार धर्मका किंचित् आश्रय लेकर अपने सिद्धान्तोंका निरूपण किया था इसीलिये जैनशास्त्रोंमें म० बुद्धके धर्मकी गणना एकान्तवादमें की गई है। श्री गोम्मटसारजीका निम्न श्लोक यही प्रकट करता है:—

'एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ।
इंदो वि य संसइओ मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥'

'इसमें बौद्धको एकान्तवादी, ब्रह्म या ब्राह्मणोंको विपरीतमत, तापसोंको वैनयिक, इन्द्रको सांशयिक, और मंखलि या मस्करीको अज्ञानी बतलाया है।' किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें बौद्ध धर्मको 'अक्रियाबादी' लिखा है, जो स्वयं बौद्धोंके शास्त्रोंके उल्लेखोंसे प्रमाणित है।[1] यहां पर श्वेताम्बराचार्य बौद्धोंके अनात्मवादको लक्ष्य करके ऐसा लिखते हैं, जब कि दिगम्बराचार्य उनके सैद्धान्तिक विवेचनको पूर्णतः लक्ष्य करके उसे एकान्तवादी ठहराते हैं। अक्रियाबाद एकान्तमतका एक भेद है। स्वयं दिगम्बर जैनोंकी 'तत्वार्थ राजवार्तिक' (८।१।१०) में बौद्ध धर्मके मुख्य प्रणेता मौद्गलायनका उल्लेख अक्रियावादियोंमें किया गया है। अस्तु।

आइए पाठक अब जरा भगवान महावीरके धर्म पर भी एक दृष्टि डाललें। उन्होंने जिस प्रकार धर्मकी व्याख्याकी थी, उसीके अनुसार समस्त सत्तावान पदार्थोके विषयमें सनातन सत्यका निरूपण किया। उन्होंने कहा कि यह लोक प्रारंभ और अन्त रहित

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ भूमिका.

अनादिनिधन है ।[1] यह द्रव्योंका लीलाक्षेत्र है; जो द्रव्य अनादिसे सत्तामें विद्यमान् हैं और अनन्तकाल तक वैसे ही रहेंगे । इस तरह इसलोकमें न किसी नवीन पदार्थकी सृष्टि होती है और न किसीका सर्वथा नाश होता है । केवल द्रव्योंकी पर्यायोंमें उलट फेर होती रहती है; जिससे लोककी एक खास अवस्थाका जन्म, अस्तित्व और नाश होता रहता है ।[2] इस कार्यकारण सिद्धान्तमें इसप्रकार किसी एक सर्व शक्तिवान् कर्त्ता–हर्त्ताकी आवश्यक्ता नहीं है । वस्तुतः एक प्रधान व्यक्तिके ऊपर संसारका सर्वभार डालकर स्वयं निश्चिन्त हो जाना कुछ सैद्धान्तिकता प्रकट नहीं करता । संसारका रक्षक होकर संसारी जीवपर वृथा ही दुःखोंके पहाड़ उलटना कोई भी बुद्धिवान् स्वीकार नहीं करेगा । सचमुच सांसारिक कार्योंको अपने जुम्मे लेकर वह ईश्वर स्वयं राग और द्वेषका पिटारा बन जायगा और इस दशामें वह सांसारिक मनुष्यसे भी अधिक बन्धनोंमें बंध जायगा । इस अवस्थामें ईश्वरको अनादिनिधन माननेके स्थानपर स्वयं लोकको ही अनादिनिधन मान लेनेसे यह झंझटें कुछ भी सामने नहीं आती हैं । वस्तुतः भारतीय षट्दर्शनोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे उनमें भी एक कर्त्ताहर्त्ता ईश्वरकी मान्यताके कहीं दर्शन नहीं होते ![3] ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपरान्तके भीरु और आलसी मनुष्योंकी रचना ही है जो परावलम्बी रहनेमें ही आनन्द मानते हैं । अस्तुः ।

१. बौद्धशास्त्र ' सुमङ्गलविलासिनी ' (P. T. S., P. 119) में जैनोंकी इस मान्यताका उल्लेख है. २. तत्त्वार्थसूत्र (S. B. J. II) पृष्ठ १२०–१२१. ३. अंग्रेजी जैनगजट भाग २० पृष्ठ १७ और E. R. E. Vol. II. P. 185 ff.

इस प्रकार लोकको अनादिनिधन प्रकट करके भगवान महावीरने इस लोकमें मुख्य दो द्रव्य (१) जीव और (२) अजीव बतलाये थे। जीव वह पदार्थ बतलाया जो उपयोग और चेतनामय हो।[१] और अजीव वह सब पदार्थ हैं जो इन लक्षणोंसे रहित हों। यह द्रव्य पांच प्रकारका है (१) पुद्गल, (२) आकाश, (३) काल, (४) धर्म और (५) अधर्म। अतएव भगवान महावीरके अनुसार इस लोकमें कुल छै द्रव्य हैं। इन छहोंके विशद विवरणसे जैन शास्त्र भरे हुये हैं, किन्तु यहांपर संक्षेपमें विचार करनेसे हम उनका स्वरूप इस तरह पाते हैं। इनमें (१) आत्मा या जीव एक उपयोगमई, अपौद्गलिक, अरूपी और अनन्त पदार्थ है। (२) पुद्गल एक पौद्गलिक रूपी पदार्थ है, जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण कर संयुक्त है, इसके परमाणु और स्कंध भी अनन्त और विभिन्न हैं, किन्तु वे संख्यात और असंख्यात रूपमें भी मिलते हैं। (३) आकाश एक समूचा अनंत, अमूर्तीक और अविभाजनीय पदार्थ है। यह सर्व पदार्थोंको अवकाश देता है और दो भागोंमें विभाजित है अर्थात् लोकाकाश और अलोकाकाश, यह इसके दो भेद हैं और यह धर्म अधर्म द्रव्योंके कारण है। जहांतक ये द्रव्य हैं वहींतक लोकाकाश है, इसीके भीतर जीव और अजीव पदार्थ फिरते हैं। (४) काल अमूर्तीक और स्थिर द्रव्य है, यह द्रव्यों और उनकी पर्यायोंमें रूपान्तर उपस्थित करनेमें एक परोक्ष कारण है। यह कालाणु असंख्यात हैं और सम-

१. उपरोक्त बौद्धशास्त्र 'सुमङ्गलाविलासिनी'में भी जैनियोंका आत्माके सम्बन्धमें यही मत प्रकट किया है। कहा है कि जैनियोंके अनुसार आत्मा अरूपी और ज्ञानवान है। (अरूपी अत्ता सञ्ञी) (P. T. S. P. 119).

स्त लोक इनसे भरा पड़ा है। (५) धर्म वह अमूर्तीक द्रव्य है जो लोकके समान व्यापक है और जीव, अजीवके गमनमें उसी तरह सहायक है जिस तरह मछलीको जल चलनेमें सहायक है। (६) और अंतिम अधर्म द्रव्य भी अमूर्तीक और सर्वलोकव्यापक है। इसका कार्य द्रव्योंको विश्राम देना है।[1]

इनमें केवल जीव और पुद्गल ही मुख्य हैं, शेष द्रव्य उनके अननुगामी हैं। इनके मुख्य चार कर्तव्य हैं अर्थात् वे आकाशमें स्थान ग्रहण करते हैं, परावर्त होते हैं और चलते हैं अथवा स्थिर रहते हैं। प्रत्येक कार्यमें दो कारण होते हैं, एक मुख्य उपादान कारण और दूसरा सामान्य–निमित्त (Auxiliary) कारण। सोनेकी अंगूठीमें मुख्य उपादान कारण सोना है, परन्तु उसके सामान्य निमित्त कारण अग्नि, सुनार, औजार आदि कई हैं। इसलिए जीव और अजीवके उक्त चार कर्तव्योंका मुख्य कारण स्वयं जीव और अजीव हैं, और सामान्य कारण उपरोल्लिखित शेष चार द्रव्य हैं। इसप्रकार यह लोक अकृत्रिम और यथार्थ छे द्रव्यों कर पूर्ण है और इसमें जो कुछ पर्यायें और दशायें उपस्थित होती हैं वह इन जीव एवं अजीवकी पर्यायोंके कारण होती हैं; जो शेष चार द्रव्योंके साथ हरसमय क्रियाशील रहती हैं।[2]

इतना जानलेने पर हम भगवान महावीर और म० बुद्धकी प्रारंभिक शिक्षाओंका विशद अन्तर देखनेमें समर्थ हैं। यद्यपि म० बुद्धने अपने सिद्धांतोंको जिस ढंग और क्रमसे स्थापित किया है वह जाहिरा म० महावीरके धर्म-निरूपण-ढंगसे सादृश्यता रखता

१ तत्वार्थ सूत्र अ० ५. २ दी प्रिन्सिपल्स आफ जैनीज्म पृ० ४

है, किन्तु इतनेपर भी वह म० महावीरके ढंगके समान नहीं है। वह अनात्मवाद पर अवलंबित है और स्वयं अपरिपूर्ण है, परन्तु भगवान महावीरने उसी सनातन धर्मका प्रतिपादन किया था; जिसको उनके पूर्वगामी तीर्थङ्करोंने वस्तुस्थितिके अनुरूपमें बतलाया था, और जिसमें आत्माकी मान्यता सर्वाभिमुख थी। सर्वज्ञ तीर्थंकरद्वारा प्रतिपादित हुआ धर्म किसी दृष्टिमें भी अपरिपूर्ण नहीं होता। यही दशा भगवान महावीरके धर्मके विषयमें है।

म० बुद्धने अपने सैद्धान्तिक विवेचनमें 'साङ्खार' मुख्य बतलाये थे, किन्तु इनका भी एक स्पष्टरूप नहीं मिलता है। तो भी इतना स्पष्ट है कि जैन सिद्धान्तमें यह कहीं नहीं मिलते हैं। अतएव यह वस्तुतः सांख्यदर्शनके 'संस्कार' सिद्धान्तके रूपान्तर ही हैं और प्रायः वहींसे लिये गये प्रतीत होते हैं। इन सांखारोंकी उत्पत्ति म० बुद्धने चार बातोंकी अज्ञानतापर अवलम्बित बताई है, अर्थात् दुःख, उसके मूल, उसके नाश और उसके मार्गकी अज्ञानकारी ही संखारोंकी जन्मदात्री है। यह 'संखार' मुख्यतः मन, वचन, कायरूपमें विभाजित हैं। यदि एक भिक्षु यह निदान बांधे कि मैं मृत्यु उपरान्त अमुक कुलमें उत्पन्न होऊं तो वह अपने इस तरहके बांधे हुये संखारके कारण अवश्य ही उस कुलमें जन्म लेगा। किन्तु डॉ० कीथसाहब इस मतसे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि दूसरा जन्म केवल मानसिक निदानके बल नहीं हो सक्ता। यह सिद्धान्त स्वयं बौद्ध शास्त्रोंके कथनसे बिलग पड़ता है। बौद्धशास्त्रोंसे यह ज्ञात है कि जब शरीर विद्यमान होता है तब ही शारीरिक या कायिक संखार बांधा जा सक्ता है। इस

लिये आगामीके लिये संखार बांधना मुश्किल है। तिसपर यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि बुद्धने जिन पांच खण्डों या स्कंधोंका समुदाय व्यक्ति बतलाया है उनमें एक खण्ड संखार भी है। इस अवस्थामें संखारका भाव अलग निदान बांधनेका नहीं हो सक्ता। इसीलिये डॉ० कीथसाहब भावों (Dispositions) को ही संखार बतलाते हैं; जो सांख्यदर्शनके 'संस्कार'के समान ही है, जिनका व्यवहार वहां पर पहिले विचारों और कार्योंद्वारा छोड़े गये संस्कारों (Impressions) के प्रभाव फलके रूपमें हुआ हैं।[१] म० बुद्धके बताये हुये जाहिरा कार्य-कारण लड़ीमें इन संखारोंकी मुख्यता इसीरूपमें मौजूद है। इन्हीं संखारोंकी प्रधानताको लक्ष्य करते हुये म० बुद्धने अपनी कार्य-कारण लड़ीका निरूपण इस तरह किया है:-

"अज्ञानसे संस्कारकी उत्पत्ति होती है; इससे विज्ञान (Apprehension) की; जिससे नाम और भौतिक देह उत्पन्न होती फिर नाम और भौतिक देहसे षट्-क्षेत्रकी सृष्टि होती है, जो इन्द्रियों और विषयोंको जन्म देती है। इन इन्द्रियों और उनके विषयोंके आपसी संघर्षसे वेदना उत्पन्न होती है। वेदनासे तृष्णा होती है; जिससे उपादान पैदा होता है, जो भवका कारण है। भवसे जन्म होता है। जन्मसे बुढ़ापा, मरण, दुःख, अनुसोचन (Remorse) यातना, उद्वेग और नैरास्य उत्पन्न होते हैं। इस तरह दुःखका साम्राज्य बढ़ता है।"

---

१ इस विवरणके लिए डॉ० कीथसा०की "बुद्धिस्ट फिलासफी" नामक पुस्तक (पृष्ठ ५०-५१) देखना चाहिए।

इस विवरणसे हमें म० बुद्धका संसार प्रवाह जाहिरा कार्य-कारणके सिद्धान्त पर अवलंबित नजर आता है। इसी कारण उसके अनुसार भी संसारमें सनातन और अविच्छन्न प्रवाह मिलते हैं। इस अवस्थामें यह जैनसिद्धांतमें स्वीकृत जन्म-मरण सिद्धान्त (Transmigration Theory) का रूपान्तर ही है। इनमें जो भेद है वह यही है कि बौद्धोंके अनुसार प्रारंभमें सर्व कुछ (Form and mode) अज्ञान ही था। जैनसिद्धान्तमें संसार-परिभ्रमण सिद्धान्तका प्रारंभ माना ही नहीं गया है। वह वहां अनादिनिधन है। इसतरह बुद्धका संसारप्रवाह मूलसे ही जैन-सिद्धान्तके विरुद्ध है।

म० बुद्धके उक्त विवरणमें यदि हम यह जाननेकी कोशिश करें कि जन्म किसका होता है, तो हमें निराशा ही हाथ आयगी; क्योंकि आत्माका अस्तित्व म० बुद्धने स्वीकार ही नहीं किया था। यद्यपि इस विषयमें लोगोंको अपनी मर्जीके मुताबिक श्रद्धान बांधनेकी भी छुट्टी म० बुद्धने देदी थी, जिससे बौद्ध शास्त्रोंमें भी आत्म-वादकी झलक कहीं २ दिखाई पड़ जाती है,[1] परन्तु उन्होंने स्वयं अनात्मवादको ही प्रधानता दी थी। अभिधर्मका निरूपण करते हुये बुद्धने यही कहा था कि 'न कोई आत्मा है, न पुद्गल है, न सत्व है और न जीव है'। यहां केवल ब्राह्मण सिद्धान्तमें माने हुये आत्माका ही खण्डन नहीं है, बल्कि उस सिद्धांतका भी जो शरी-रसे भिन्न एक जीवितपदार्थ मानकर संसारपरिभ्रमणकी घोषणा करता है। उनके अनुसार मनुष्य पांच स्कन्धोंका समुदाय है, अर्थात् रूप

---

१ धम्मपद (S. B. E) और थेरथेरी गाथा देखो।

(Material element), संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान। मनुष्यका वर्णन उसके उन मार्गोंके वर्णनमें किया गया है जिनसे वह बना है और उसकी समानता एक रथसे की है जो विविध अवयवोंका बना हुआ है और स्वयं उसका व्यक्तित्व कुछ नहीं है।'[1] यह मानता बुद्धके उपरान्त उनकी हीनयान सम्प्रदायको अब भी मान्य है; किंतु महायान सम्प्रदाय इससे अगाड़ी बढ़कर पदार्थोंके अस्तित्वसे ही इन्कार करती है।[2] उसके निकट सब शून्य है, यह उपरान्तका सुधार है। म० बुद्धके निकट तो अनित्यवाद ही मान्य था। इस अवस्थामें इस प्रश्नका संतोषजनक उत्तर पाना कठिन है कि जन्म किसका होता है?

म० बुद्धने प्रायः इस प्रश्नको अधूरा ही छोड़ दिया है। परन्तु जो कुछ उनने कहा है उसका भाव यही है कि एक व्यक्ति जन्म लेता है और यह व्यक्ति केवल पांच वस्तुओंका समुदाय है[3] जिनको हम देख चुके! इससे यह व्यक्ति कोई सनातन नित्य पदार्थ नहीं माना जासक्ता। सत्ता तो वह है ही नहीं! जिस प्रकार सब अवयवोंके पहिलेसे मौजूद रहनेके कारण शब्द 'रथ', कहा जाता है वैसे ही जब उपरोल्लिखित पांच वस्तुयें एकत्रित हुईं तब बुद्धने 'व्यक्ति' शब्दका उच्चारण किया! यह बौद्धोंकी मान्यता है! और इससे हमारा प्रश्न हल नहीं होता, क्योंकि जिन पांच स्कन्धोंका समुदाय व्यक्ति बताया गया है वह उस व्यक्तिके साथ ही खतम हो जाते हैं। अस्तु;

---

१ इन्साइक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स भाग ९ पृ. ८४७.
२ कान्फ्लुयेन्स आफ ओपोजिट्स पृ० १४७. ३ मिलिन्दपन्ह २।१।२.

अगाड़ी इसी कार्य–कारण–लड़ीके अनुसार कहा गया है कि पर्यायावस्था (Becoming) चालू रहती है और वस्तुतः यहां सिवाय पर्यायान्तरित होनेके कोई व्यक्ति है ही नहीं।[1] इस पर्यायावस्थामें पुरानी और नवीन पर्यायका सम्बन्ध चालू रखनेके लिये, महानिदान सूत्रमें, माताके गर्भमें विज्ञान (Consciousness) का उतरना बतलाया है।[2] डॉ० कीथ इस मतको स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि "इस वक्तव्य–विशेषणसे कि 'विज्ञानका उतराव होता है' (Descent of the Consciousness) विज्ञानका पुरानी पर्यायसे नवीनमें जाना बिल्कुल स्पष्ट है। और यह संभव है कि यह विज्ञान किसी प्रकारके शरीर सहित आता हो। म० बुद्ध विज्ञानके चालू रहनेसे बिल्कुल सहमत हैं।"[3] इसप्रकार यद्यपि म० बुद्धने एक नित्य सत्तात्मक 'व्यक्ति' का अस्तित्व स्वीकार किये विना ही अपना सिद्धान्त निरूपित करना चाहा और संज्ञा (Consciousness) की उत्पत्ति अपने आप पांच स्कन्धोंमें होती स्वीकार की, जिस तरह सांख्यदर्शन बतलाता है; परन्तु अंततः उनको पर्याय–प्रवाहमें संज्ञा–विज्ञान–Consciousness का चालू रहना मानना ही पड़ा! इस तरह इस निरूपणकी कोताई साफ जाहिर है! भला विना किसी सत्तात्मक नित्य नींवके सांसारिक पर्यायोंका किला कैसे बांधा जासक्ता है? किन्तु इस निरूपणमें भी जैन सिद्धांतकी झिलमिली झलक नजर पड़ रही है। जैनियोंके अनुसार इच्छा ही कर्मबंधकी कारण है, जिसका मूल श्रोत कर्मज-

१ बुद्धिज्म-इट्स हिस्टरी एन्ड लिटरेचर पृ४. १२४. २ दीघनिकाय २।६३,३. बुद्धिस्ट फिलॉसफी पृष्ठ ८०.

नित मोहावस्थामें है।[1] इसलिए सत्तात्मक व्यक्ति (जीव)–जिसका लक्षण उपयोग संज्ञा है, इस अवस्थामें सांसारिक दुःख और पीड़ाको भुगतता संसारमें रुलता है। इस संसारपरिभ्रमणमें जब वह एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है तो उसके साथ सूक्ष्म कार्माण शरीर भी जाता है, जिसके कारण दूसरे शरीरमें उसका जन्म होता है। म० बुद्धके उक्त विवरणमें हमें इस सिद्धांतके विकृतरूपमें किञ्चित दर्शन होते हैं।

अब जरा और बढ़कर बौद्धदर्शनमें यह तो देखिये कि वह कौनसी शक्ति है जो 'विज्ञान'को उसका नवीन जन्म देती है? म० बुद्धने यह शक्ति कर्म बतलाई है। कर्ममें भी 'उपादान' इसके लिये मुख्य कारण है। इस कर्मसम्बंधमें भी डॉ० कीथसाहब हमें विश्वास दिलाते हैं कि 'इस बातपर बौद्धशास्त्र प्रायः स्पष्ट हैं। कर्मका जोर किसी रीतिसे भी टाला नहीं जासक्ता! बहानेबाजी वहां काम नहीं देती। कर्मका दण्ड अवश्य ही सहन करना पड़ेगा हां, उस दशामें यह निरर्थक हो जाता है जब संसार–प्रवाहकी लड़ीको नष्ट करनेका साधन मिल गया हो। यहांपर भविष्यके लिये तो कर्म लागू नहीं हो सक्ता, किन्तु गत कर्मोंका कार्यमें ले आना आवश्यक है जिससे उनका महत्व ही जाता रहे। अनेक

---

१. म० बुद्धने भी इच्छाको–तृष्णाको दुःखका कारण बतलाया है, परन्तु उसके भावको दोनों स्थानोंपर दूसरी तरह ग्रहण किया गया है, यह प्रकट है। तथापि बुद्धने इन्द्रियोंकी संख्या, नाम और उनका विषय ठीक जैनधर्मके अनुसार बतलाया है। मनकी व्याख्या जो उनने की है वह भी सामान्यतः जैनधर्मकी व्याख्यासे मिलती जुलती है। इसके लिये तत्वार्थसूत्र अ० २ देखना चाहिये।

हत्यायोंके अपराधीकी छुट्टी इस अवस्थामें थोड़ेसे मुक्कोंके खानेमें ही हो जाती है।[1] इससे स्पष्ट है कि गत संस्कारों और विज्ञान (Consciousness)का दूसरे भवमें चला आना अवश्यंभावी है।[2]

इस तरह जितने भी अज्ञानी व्यक्ति तृष्णाके आधीन हुये उसको तृप्त करनेकी कोशिश करते रहते हैं, उनके विषयमें बुद्ध कहते हैं, कि वे संसारमें फंसे रहते हैं, और अपने कृतकर्मोंके फल अनुरूप नवीन व्यक्तित्वको जन्म देते हैं। यह कर्मशक्ति किस तरह अपना कार्य करती है, अभाग्यवश यह हमको नहीं बताया गया है। यह भी बुद्धकी 'अनिश्चित बातों'मेंसे एक है। म० बुद्ध कर्मकी कार्य-शक्ति तो मानते हैं, परन्तु वह यह नहीं बतलाते कि वह किस तरह कार्य करती है।[3] यही कारण है कि स्वयं बौद्धग्रन्थोंमें इस विषयपर पूर्वापर विरोधित मत मिलते हैं। जरा 'मिलिन्द-पन्ह'को ले लीजिए। एक स्थानपर इसमें केवल कर्मको ही दुःख व पीड़ाका कारण नहीं बतलाया है बल्कि पित-श्लेष्म आदिके आधिक्यरूप आठ कारण और बतलाये हैं, और कहा है कि जो कर्मको ही सब पीड़ाओंका मूल बतलाते हैं वे झूठे हैं।[4] किन्तु इसी ग्रन्थमें अन्यत्र कर्मके प्रभावको ही सर्वोपरि स्वीकार किया है। कहा है कि यह कर्म ही है जो शेष सब बातोंपर अधिकार जमाये हुये है। उसीकी तूती सर्वथा बोलती है।[5] इस तरह बौद्ध धर्ममें कर्मसिद्धान्तका निरूपण भी पूर्णरूपमें नहीं मिलता है। इस कमताईका दोष म०

१. यहां जैनधर्मके कर्म संक्रमण, अतिक्रमणका दृश्य है। २. बुद्धिस्ट फिलॉसफी पृष्ठ १०२. ३. कीथ 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी' पृष्ठ १०९. ४. मिलिन्द-पन्ह ४।१।६२. ५. मि० प० ४।४।३.

बुद्धपर आरोपित नहीं किया जासका, क्योंकि उन्होंने पहिले ही सैद्धांतिक वातावरणमें आनेसे इन्कार कर दिया था। वे थे तत्कालीन परिस्थितिके सुधारक और सुधारक भी माध्यमिक कोटिके! इसलिये उनका सैद्धांतिक विवेचन पूर्णताको लिये हुये न हो तो कोई आश्चर्य नहीं! बौद्धधर्मका सैद्धांतिक विकास बहुत करके म० बुद्धके उपरान्तका कार्य है।

किन्तु इतनेपर भी यह स्पष्ट है कि म० बुद्धके अनुसार भी संसार एक सनातन प्रवाह है, जिसका प्रारम्भ और अन्त अनंतके गर्तमें है। तथापि वह असत्तात्मक (Unsubstantial) और कर्मके आश्रित हैं। कर्म स्वयं किसी मनुष्यका नैतिक कार्य नहीं बतलाया गया है, परन्तु वह एक सार्वभौमिक सिद्धान्त माना गया है। उसे किसी बाह्य हस्तक्षेपकी जरूरत नहीं है जो उसका फल प्रदान करे। कर्म स्वयं स्वाधीन है, इसलिये बुद्धके निकट भी एक जगत नियंत्रक ईश्वरकी मानताको आदर प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार सामान्यतः भगवान महावीर और म० बुद्धका कर्म सिद्धान्त विवरण भी किंचित बाह्य सादृश्यता रखता है। कर्मका स्वभाव और प्रभाव दोनों ओर एकसा ही माना गया है; किन्तु वह एकता केवल शब्दोंमें ही है। मूलमें दोनोंमें आकाश पातालका अन्तर हैं। म० महावीरके अनुसार कर्म एक सूक्ष्म सत्तामय पौद्गलिक पदार्थ है; जो संसारी जीवके बन्धनका कारण है। म० बुद्धके निकट वह असत्तात्मक (Unsubstantial) नियम है। विद्वानोंने परिणामतः खोज करके यह प्रगट किया है कि म० बुद्धने कर्मसिद्धांतकी बहुतसी बातोंको जैनधर्मसे गृहण किया था। आश्रव, संवर

शब्द, जो बौद्ध धर्ममें शब्दार्थमें व्यवहृत नहीं होते, मूलमें जैन धर्मके हैं ।[1] अस्तु ।

दूसरी ओर म० बुद्धके उपदेशके विपरीत भगवान महावीरका सिद्धान्त विवेचन आत्मवादपर आश्रित था । आत्मा उसमें मुख्य मानी गई थी, जैसे हम देखचुके हैं । भगवानने कहा था कि अनन्तकालसे आत्माका पुद्गलसे सम्बंध है । यद्यपि यह आत्मा अपने स्वभावमें अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख कर पूर्ण स्वाधीन है, किन्तु इसके उक्त सम्बन्धने इसके असली रूपको मलिन कर दिया है । इसी मलिनताके कारण वह संसारमें अनादिकालसे परिभ्रमण कररही है । इस तरह जो आत्मायें संसार परिभ्रमणमें फंसी हुई हैं, वे घोर यातनायें और पीड़ायें सहन करती हैं । उनका यह पौद्गलिक सम्बन्ध उनमें इन्द्रियजनित इच्छाओं और वाञ्छाओंकी ऐसी ज़बरदस्त तृष्णा उत्पन्न करता है कि वह दिनरात उसीमें जला करती हैं । उनके साथ इस परिभ्रमणमें एक कार्माणशरीर लगा रहता है, जो पुण्यमई और पापमई कर्मवर्गणाओंका बना हुआ है । इस कार्माण शरीरमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके अनुसार प्रत्येक क्षण नवीन कर्मवर्गणायें आतीं रहतीं हैं और साथ ही पुरानी झड़ती रहती हैं । ये कर्मवर्गणायें जो आत्मामें आश्रवित होती हैं वे किसी नियत कालके लिए ही आत्मासे सम्बन्धित होती हैं । ज्यों ही आत्माको वस्तुस्थितिका भान होता है और उसे भेद विज्ञानकी प्राप्ति होती है, त्यों ही वह सांसारिक कार्यों और झूठे मोहसे ममत्व त्याग देती है । इस दशामें वह आत्म-ध्यान

१. इन्साइक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स भाग ७ पृष्ठ ४७२.

और तप-उपवासका आश्रय लेती है; जिसके सहारे क्रमशः आत्मोन्नति करते हुये वह एक रोज कर्मबन्धनोंसे पूर्णतः मुक्त हो जाती है। भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य यही बतलाते हैं:—

" जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा ।
कालें विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिन्ति भुञ्जन्ति ॥६७॥ "

भावार्थ—आत्मा और कर्मपुद्गल दोनों एक दूसरेसे बारबार सम्बन्धित होते हैं, किन्तु उचितकालमें वे अलग २ होजाते हैं। वही दुःख और सुखको उत्पन्न करते हैं जिनका अनुभव आत्माको करना पड़ता है।

इस प्रकार मुख्यतः कर्म ही सर्व सांसारिक कार्योंका मूल कारण है। जो कुछ एक संसारी आत्मा बोता है, वही वह भोगता है। और जब कि यह कर्मबद्ध आत्मा ही शेष पांच द्रव्योंके साथ कार्य कर रहा है, तब संसारकी सब क्रियायें इसी कर्मपर अवलम्बित हैं। इस कर्मका प्रभाव सारे लोकमें व्याप्त है और संसारप्रवाह भी इस हीके बलपर चालू है। इसका फल भी अटल है। कभी जाहिराहमें भले ही उसका फल कार्य करता नजर न आता हो, परन्तु तो भी सामान्यतया कर्म निष्फल नहीं जा सक्ता। संसारमें हम एक पापीको फूलता फलता अवश्य देखते हैं और एक पुण्यात्माको दुःख उठाते, किन्तु इससे भी यह स्वीकार नहीं किया जा सक्ता कि पापकर्मोंका फल पापीको और पुण्यकर्मोंका फल पुण्यात्माको नहीं मिलेगा। जैनाचार्य कहते हैं:—

"या हिंसावतोऽपि समृद्धिः अर्हत् पूजावतोऽपि दारिद्र्याप्तिः
साऽक्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य पुण्यानुबन्धिनः

पापस्य च फलम्। तत् क्रियोपात्तं तु कर्मजन्मान्तरे फलिष्यतीति नात्र नियतकार्यकारेण व्यभिचारः॥ ”

भावार्थ-पापी मनुष्यकी अभिवृद्धि और अर्हतपूजारत पुण्यात्माकी दयाजनक स्थिति उन दोनोंके पूर्वसंचित कर्मोंका फल समझना चाहिये। उनके इस जन्मके पाप और पुण्य दूसरे भवमें अपना फल दिखावेंगे, इसलिये कर्म नियम किसी तरह बाधित नहीं है।

सचमुच भगवान महावीर सर्वज्ञ थे-साक्षात् परमात्मा थे-इसलिये उनका उपदेश वैज्ञानिक और व्यवस्थित होना ही चाहिये। इस हीके अनुरूपमें जैनशास्त्रों जैसे-गोम्मटसार, पञ्चास्तिकायसार आदिमें कर्मसिद्धान्तका पूर्ण और वैज्ञानिक विवेचन ओतप्रोत भरा हुआ है। उसका सामान्य दिग्दर्शन कराना भी यहां मुश्किल है। तो भी यह स्पष्ट है कि कर्मसिद्धांतके अस्तित्व और उसकी क्रियासे इन्कार नहीं किया जासक्ता। कार्य-कारण सिद्धांतका प्राकृतिक नियम है, इस विषयमें इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि आत्मा स्वयं अपने स्वभावमें ही क्रिया करता है और वह अपने आप अपने भावका कारण है। वह कर्मकी विविध अवस्थाओंका मूल कारण नहीं है, इसी तरह कर्म भी स्वयं अपनी पर्यायोंका कारण है। वह स्वयं अपने आपमें क्रियाशील है। श्री नेमिचन्द्राचार्यजी उनके पारस्परिक सम्बन्धको स्पष्ट प्रगट कर देते हैं:-

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणम् ॥ ८ ॥ द्रव्यसंग्रह ॥

भावार्थ-व्यवहारनयकी अपेक्षा आत्मा कर्मकी पर्यायोंका कारण है; अशुद्ध निश्चयनयसे आत्मा स्वयं अपने उपयोगमयी

भावोंका कारण है और शुद्ध निश्चयनयसे वह पवित्र स्वाभाविक दशाका कारण है।

इसप्रकार उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि संसार अवस्थामें भटकती हुई आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्थाके गुणोंका उपभोग करनेमें असमर्थ है। इसकी अशुद्ध अवस्थामें राग, द्वेष आदि जैसे विभाव उत्पन्न होते रहते हैं, जो इसके सांसारिक बन्धनको और भी बढ़ाते हैं। भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य यही बतलाते हैं:—

'भावनिमित्तो बन्धो भावोरदि रागद्वेषमोहजुदो।'

अर्थात्—बन्ध भावके आधीन है जो रति, राग, द्वेष और मोहकर संयुक्त है। अतएव इस लोकमें भरी हुई कर्मवर्गणाओंको जो आत्माकी ओर आकर्षित करते हैं वह भाव हैं, अर्थात् मिथ्यादर्शन, अवरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, कायरूप योग। यही भाव कर्मबद्ध आत्माको शुभ और अशुभ क्रियाओंके अनुसार पाप और पुण्यमय कर्माश्रवके कारण हैं। इस तरहपर कर्म मुख्यता दो प्रकारका है:—(१) भावकर्म (२) और द्रव्यकर्म। आत्मामें उदय होनेवाले भाव भावकर्म हैं और जो कर्मवर्गणायें उसमें आश्रवित होतीं हैं वह द्रव्यकर्म हैं। यह कर्मोंका आगमन 'आश्रव' कहलाता है। यह जैनसिद्धान्तमें स्वीकृत सात तत्वोंमें तीसरा तत्व है। जीव और अजीव प्रथम दो तत्व हैं।

इस सैद्धान्तिक विवेचनमें जिस प्रकार उक्त तीन तत्व प्राकृत

१. तत्वार्थसूत्र (S. B. J. Vol. II.) पृष्ठ १५५. बौद्धोंके मज्झिमनिकाय (P. T. S. Vol. I. P. 372) में भी जैनियोंके इस योगका उल्लेख है।

आवश्यक हैं, उसी तरह शेषके तत्व हैं। इनमें चौथा तत्व बंध है। यह आश्रवित कर्मको आत्मासे एक कालके लिये सम्बन्धित करानेके लिये आवश्यक ही है।[1] इसका कार्य यही है, परन्तु इस बंधकी अवधि उससमयके कषायोंकी तीव्रतापर अवलम्बित है; जिससमय कर्माश्रव होरहा हो। इस अवधिमें संचित कर्म अपना शुभाशुभ फल देता है और पूर्ण फलको देनेपर आत्मासे अलग होजाता है।

यहांतक तो कर्मोंके संचय और उनके प्रभावका दिग्दर्शन किया गया है, किन्तु पांचवें तत्त्वसे इस कर्मसे छुटकारा पानेका भाव शुरू होता है। यह तत्व संवर है। कर्मोंसे छुटकारा पानेके लिये उस नलीका मुख बन्द करना आवश्यक है जिसमेंसे कर्माश्रव होता है। यह प्रतिरोध ही संवर हैं।[2] मन, वचन, कायके योग और उनके आधीन इन्द्रियजनित विषयवासनाओंपर विजय प्राप्त करना मानो आगामी कर्मोंके आगमनका द्वार बंद करना है। फिर इस अवस्थामें केवल यही शेष रह जाता है कि जो कर्म सत्तामें हों उनको निकाल दिया जावे। यह निकालना छट्ठा तत्व निर्जरा है और इसके द्वारा कर्मोंको नियत समयसे पहिले ही झाड़ देना है। यह संयम और तपश्चरणके अभ्याससे होता है। अन्ततः कर्मोंसे पूर्ण छुटकारा पाना सातवां तत्व मोक्ष है। मुक्त हुई आत्मा लोककी शिखिरपर स्थित सिद्धशिलामें पहुंचकर हमेशाके लिये अपने स्वभावका भोक्ता बन जाती है। उस दशामें वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुखका उपभोग करती है। इसप्रकार यह प्राकृतिक सिद्ध सात तत्व हैं और इनमें किसी प्रकारकी कमीवेशी करनेकी

---

१. त० सू० पृष्ठ १५७... २. त० सू० पृष्ठ १७५.

गुञाइश नहीं है। इसलिये आज भी हमको यह उसी रूपमें मिलते हैं जिस रूपमें भगवान महावीरने ढाई हजार वर्ष पहिले पुनः बतलाये थे। इन्हीं तत्वोंमें पुण्य और पाप मिलानेसे नौ पदार्थ होजाते हैं। अस्तु;

अब जरा पाठकगण, इन कर्मके भेदोंपर भी एक दृष्टि डाल लीजिये, जो संसारप्रवाहमें इतना मुख्य स्थान गृहण किये हुये है। भगवान महावीरने सामान्यतः यह आठ प्रकारका बतलाया था; यथा—

(१) ज्ञानावर्णीय—ज्ञानको आवरण (ढकने) करनेवाला कर्म।
(२) दर्शनावर्णीय—देखनेकी शक्तिमें बाधा डालनेवाला कर्म।
(३) मोहनीय—वह कर्म जो आत्माके सम्यक् श्रद्धान और आचरणमें बाधक है।
(४) अन्तराय— ,, ,, ,, ,, की स्वतंत्रतामें बाधक है।
(५) वेदनीय— ,, ,, ,, ,,सुख-दुःखका अनुभव कराता है।
(६) नाम— ,, ,, ,, ,, संसारकी विविध गतियोंमें लेजानेका कारण है, जैसे देव, मनुष्यादि।
(७) गोत्र— ,, ,, ,, ,, उच्च—नीच कुलमें जन्म लेनेका कारण है।
(८) आयु— ,, ,, ,, ,, एक नियत काल तक एक गतिमें रखता है।

यह आठ प्रकारके कर्म पुनः अन्तर्भेदोंमें विभाजित हैं, जो कुल १४८ कर्मप्रकृतियां कहलाती हैं। जिस प्रकृतिका जिस समय उदय होगा उस समय आत्माकी अवस्था वैसी ही हो जावेगी।

इसकी सूक्ष्मता यहां तक व्याप्त है कि जीवित प्राणीके शरीरकी हड्डियोंको रचनेवाला एक अस्थि-नाम-कर्म है। कोई दशा और कोई अवस्था कर्मप्रभावके अतिरिक्त कुछ नहीं है और जब यह कर्म स्वयं प्राणीके मन, वचन, कायकी क्रियाओंके अनुसार सत्तामें आता है, तब यह इस प्राणीके आधीन है वह चाहे जिस प्रकारके कर्मको अपनेमें संचय करे अथवा उसको विल्कुल ही आश्रवित न होने देनेका उपाय करे ! मतलब यह कि मनुष्यका भविष्य स्वयं उसकी मुट्ठीमें है। भगवान महावीरके बताये हुये कर्मवादका पारगामी विल्कुल स्वावलम्बी और स्वाधीन होता ही नजर आयगा। परावलम्बिता और पराश्रिताको यहां स्थान प्राप्त नहीं है। इस कर्मवादका पूर्ण दिग्ददर्शन गोम्मटसारादि जैनग्रंथोंसे करना आवश्यक है।

अब यह तो जान लिया कि इस अनादिनिधन लोकमें कर्मजनित परस्थितिमें अनन्त आत्माएं अपने स्वभावको गंवायें भटक रहीं हैं; परन्तु इस भटकनका भी कोई क्रम है या नहीं ? भगवान महावीरने इसका भी एक क्रम हमको बतलाया है। यह क्रम जीवनके विविध रूप नियत करता है। जैन धर्ममें इनका उल्लेख 'गति' के नामसे किया गया है और ये चार प्रकार हैं-(१) देवगति, (२) मनुष्यगति, (३) तिर्यंचगति और (४) नर्कगति। देवगतिमें आत्मा स्वर्गोमें जन्म लेता है, जहां विशेष ऐश्वर्य और सुखका उपभोग वह करता है, किन्तु यहां भी वह दुःख और पीड़ासे विल्कुल मुक्त नहीं है। दूसरी गति मनुष्यभव है और इसके भाग्यमें सुख और दुःख दोनों ही बदे हैं; तिसपर उसमें दुःखकी मात्रा ही अधिक है। तीसरी तिर्यञ्चगतिमें पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, वृक्ष,

लता, अग्नि, जल, वायु आदि जीवन-भवगर्भित हैं। इस गतिमें आत्माको और अधिक दुःख और पीड़ा भुगतनी पड़ती है। अंतिम नर्कगति नर्कका वास है। यहां घोर दुःख और असह्य पीड़ायें सहन करनी पड़ती हैं। इन चारकी भी अन्तर्दशायें हैं; परन्तु इन सबका लक्षण जीना और मरना ही है। इन गतियोंमेंसे आत्मा किसी भी गतिमें जावे उसके शुभाशुभ कर्म अपने आप उसके साथ जावेंगे। इसलिये किसी भवमें भी उपार्जन किया हुआ पुण्य अकारथ नहीं जाता है। इनमेंसे स्वर्ग और नर्ककी वासी आत्मायें अपने आयुके पूरे दिनोंका उपभोग करतीं हैं-इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती, परन्तु शेष दो गतियोंके जीव अपनी आयुके पूर्ण होनेके पहिले भी मरण कर जाते हैं। नरकगतिमें शरीरके टुकड़े २ भी कर दिये जाय, परन्तु वह नष्ट नहीं होता। पारेकी तरह वह अलग होकर भी जुड़ जाता है। तिर्यञ्चगतिमें दो प्रकारके जीव हैं:-(१) समनस्क अर्थात् मनवाले और (२) अमनस्क अर्थात् विना मनवाले जीव। यह फिर स्थावर-जो चल फिर न सकें और त्रस-जो चल फिर सकें-के रूपसे दो प्रकार हैं। जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वनस्पति आदिके रूपकी आत्मायें स्थावर हैं। वे एक इन्द्री रखते हैं और भय लगने पर भी भाग नहीं सक्ते हैं। और त्रस पशु, पक्षी आदि हैं। मनुष्य मुख्यतः आर्य और म्लेच्छ दो भेदोंमें विभाजित हैं।

प्रत्येक संसारी आत्माके उसकी गतिके अनुसार एक प्रकारके

---

१. बौद्धोंके शास्त्रोंमें भी जैनियोंकी इस मान्यताका उल्लेख है :- सुमङ्गलाविलासिनी पृष्ठ १६८ और मिलिन्दपन्ह ४।६।५४. २. बौद्धधर्ममें भी यही दशा नारकियोंकी मानी है, देखो-'दी हेवन एण्ड हेल इन बुद्धिस्ट परस्पेक्टिव' पृष्ठ १०२.

प्राण भी हैं। यह प्राण संसारी आत्माके शरीर द्वारा प्रगट हुए उपयोगका एक रूप है। ये कुल दस हैं। (१) पांच इन्द्रियां (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र); (६) मनशक्ति, (७) बचन शक्ति, (८) कायशक्ति, (९) आयु और (१०) श्वासोश्वास। इन प्राणोंकि अनुसार ही आत्मा कर्म संचय कर सक्ती है और कषायोंको रख सक्ती है इसीलिये आत्माओंकी छै लेश्यायें (Thought Colours) बताई हैं। इनसे आत्माके कषायोंकी तीव्रता ज्ञात होती है। यह मक्खलि गोशालके छै अभिजाति सिद्धान्तके समान नहीं है। उसके अनुसार तो मनुष्य आत्मायें ही छै प्रकारकी ठहरतीं हैं, परन्तु जैनसिद्धान्तमें सब आत्मायें अपने असली रूपमें एक समान बताई गई हैं।

म० बुद्धने भी 'व्यक्ति' के छै प्रकारके जीवन बताये हैं[१] और यह संभवतः स्वर्ग, नर्क, मनुष्य, पशुपक्षी, प्रेत और असुर रूप हैं। जल, अग्नि, वायु और पृथ्वीमें बुद्धने जीव स्वीकार नहीं किया है यद्यपि वनस्पतिमें जीव स्वीकार किया गया प्रतीत होता है।[२] परंतु इनमेंसे किसीका भी पूर्ण मार्मिक विवरण हमें बौद्ध धर्ममें सामान्यतः नहीं मिलता है। इतना ज्ञात है कि पुण्य पापमें कर्म जो अज्ञानताके कारण किये जाते हैं उनसे इन जीवनोंमें व्यक्तिका सद्भाव होता है।

यह जाननेका प्रयत्न करनेपर कि यह जीवनक्रम लोकमें किस तरह पर अवस्थित है, म० बुद्ध बतलाते हैं कि इस लोकमें अगणित संसार क्षेत्र हैं, जिनके अपने २ स्वर्ग और नर्क हैं।[३]

---

१. हे० ए० हे० पृष्ठ ९२. २. मिलिन्द ४।३।७. ३. हे० ए० हे० पृष्ठ ९३.

जहांतक एक सूर्य अथवा चन्द्रमाका प्रकाश पहुंचता है वहांतकका प्रदेश एक 'सकल' कहलाता है। प्रत्येक सकलमें पृथ्वी, खण्ड, प्रान्त, द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि होते हैं और उसके मध्यमें 'महामेरु' पर्वत होता है। प्रत्येक सकलका आधार 'अनंताकाश' है; जिसके ऊपर 'वापोलोव' अर्थात् वायुपटल ९६० योजन मोटा है। वापोलोवके बाद जलपोलोव है जो ४८०,००० योजन मोटाईका है। ठीक इसके ऊपर महापोलोव अर्थात् पृथ्वी है जो २४०,००० योजन मोटी है।[१] इस तरह प्रत्येक सकल अर्थात् क्षेत्रको म॰ बुद्धने तीन प्रकारके पटलोंसे वेष्टित बतलाया था। यहां भी जैनसिद्धांतकी सादृश्यता दृष्टव्य है। अगाडी पाठक देखेंगे कि जैनसिद्धान्तमें भी लोकको तीन वलयोंसे वेष्टित किस तरह बतलाया गया है। महामेरु जैनधर्मका सुमेरु पर्वत प्रतीत होता है। बौद्ध इसे १६८००० योजन ऊंचा और इसके शिखिर पर 'तवुतिश' नामक देवलोक बतलाते हैं।[२] जैनियोंका सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊंचा है और उसकी शिखिरके किञ्चित अन्तरसे स्वर्ग लोकके विमान प्रारंभ होते बताये गए हैं। इससे एक बाल बराबर अन्तर पर सौधर्म स्वर्गका विमान है। यहां भी सादृश्यता दृष्टव्य है। उपरान्त प्रत्येक सकल या पृथ्वीमें चार द्वीपकी गणना बौद्धशास्त्रोंमें की गई है अर्थात् (१) उत्तर कुरुदिवयिन जो महामेरुकी उत्तर ओर चौकोने ८००० योजनके विस्तारका है; (२) पूर्व विदेश—जो महामेरुकी पूर्व ओर अर्धचंद्राकार ७००० योजन विस्तारका है; (३) अपरगोदान, जो

१. Hardy's Manual of Buddhism p. p. 2-3.
२. Ibid.

महामेरुकी पश्चिम ओर गोल दर्पणके आकारका ७००० योजनके विस्तारका है; (४) और जम्बूद्वीप जो महामेरुकी दक्षिण ओर त्रिकोन आकारका १०००० योजनके विस्तारका है।[1] जैन विवरण इससे नहीं मिलता है। वहां मध्यलोकमें जम्बूद्वीप आदि अनेक द्वीप समुद्र बताये हैं। इन द्वीपसमुद्रोंके ठीक बीचोबीचमें जम्बूद्वीप बतलाया है जो गोल आकारका है और जिसके मध्यमें मनुष्य शरीरमें नाभिकी भांति मेरु पर्वत है। जम्बूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारका है। उत्तरकुरु और पूर्वविदेह उसमें वे क्षेत्र हैं जहां भोगभूमि है; परन्तु बौद्धोंके अपरगोदान द्वीपका पता कहीं नहीं लग्ता है। बौद्धोंने अपने 'उत्तरकुरुदिवयिन' द्वीपका जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि वे भी वहां एक तरहकी भोगभूमि मानते हैं। उनके अनुसार वहांके निवासी चौकोल मुखके हैं, जो न कभी बीमार होते हैं और न कोई आकस्मिक घटना उनपर घटित होती है। स्त्री पुरुष दोनों ही सदा षोड़शवर्शीय सुन्दर अवस्थाको धारण किये रहते हैं। वे कोई कार्य धन्धा भी नहीं करते हैं; क्योंकि जो कुछ वे चाहते हैं वह उनको 'कल्पवृक्षों' से मिल जाता है। यह वृक्ष १०० योजन ऊंचे हैं। वहां माता, पिता, भाई आदिका कोई रिश्ता नहीं है। स्त्रियें देवोंसे भी सुन्दर हैं। वहां वर्षा नहीं होती जिससे घरोंकी भी आवश्यक्ता नहीं है। मनुष्योंकी आयु यहां एक हजार वर्षकी है।[2] यह विवरण जैनियोंकी भोगभूमिसे बहुत मिलता जुलता है। यद्यपि वहां भोगभूमियोंकी आयु बहुत ज्यादा बतलाई है। इस भेदका कारण यही है कि जैनधर्ममें संख्या परिमाण

१. Ibid P. 4. २. Ibid P. P. 14-15.

बौद्धोंसे बहुत अधिक है। बौद्धोंकी उत्कृष्ट संख्या असंख्यात है; जबकि जैनोंकी संख्या इससे बढ़कर अनन्तरूप है। बुद्ध यह मानते हैं कि यह लोकप्रवाह सनातन है, परन्तु वह इस बातको भी जैनियोंके साथ २ स्वीकार करते हैं कि उन देशोंका नाश और उत्पाद भी होता है, जिनमें मनुष्य रहते हैं। नाशके तरीके वे तीन प्रकार बतलाते हैं अर्थात् सकृवल सातवार तो अग्निसे नष्ट होते हैं, आठवींवार पानीसे और हर ६४वीं दफे हवासे। उनमें इस नाशक्रमका व्यवहार कल्पोंपर नियत रक्खा है। कहा गया है कि जिस अन्तराल कालमें मनुष्यकी आयु १० वर्षसे बढ़ते २ एक असंख्यकी होजाती है और एक असंख्यसे घटते २ दस वर्षकी फिर रह जाती है वह बौद्धोंका एक अन्तःकल्प होता है। इन २० अन्तःकल्पोंका एक असंख्यकल्प होता है और चार असंख्य कल्पका एक महाकल्प होता है[1]। जैनधर्ममें भी कल्पकाल माने गये हैं; परन्तु उनका परिणाम इनसे कहीं अधिक है। जैनियोंने दस कोड़ाकोड़ी व्यवहार सागरोपमकालका एक अवसर्पिणीकाल माना है और बीस कोड़ाकोड़ी व्यवहार सागरोपमकाल–एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी दोनोंका एक कल्पकाल माना है। तथापि असंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणीका एक महाकल्पकाल माना है। इनके विशद विवरणके लिए त्रिलोकसार बृहद् जैन शब्दार्णव आदि ग्रंथ देखना चाहिए। यहां तो मात्र सामान्य दिग्दर्शन कराना ही संभव है। सारांशतः कल्पकालका भेद जैन और बौद्ध मानतामें स्पष्ट है। अगाड़ी बौद्धशास्त्र एक अन्तःकल्पमें

---

१. Ibid P. 7

आठ युग बतलाते हैं; जिनमें चार उत्सर्पिणी और चार अर्प्पणी कहलाते हैं। उनके उत्सर्पिणीमें हरबातकी वृद्धि होती है--इसलिए वह ऊर्द्धमुख भी कहाती है और अर्प्पणीमें घटती, इस हेतु वह अधोमुख कही जाती है।[1] यहां भी जैन धर्मका प्रभाव दृष्टव्य है। भगवान महावीरने भी कल्पकालके दो भेद उत्सर्पिणी और अवि-सर्पिणी बतलाये हैं। इनका प्रभाव भी वही बतलाया गया है जो बौद्धोंके उत्सर्प्पिणी और अर्प्पिणी युगोंका बतलाया गया है। सच-मुच नाम और भावकी सादृश्यता इस बातकी प्रकट साक्षी है कि म० बुद्धने अपने कालनिर्णयमें भी अपने प्रारंभिक श्रद्धानके धर्म-जैनधर्मसे बहुत कुछ लिया था। हां, यहां यह अन्तर बेशक है कि जब म० बुद्धने उत्सर्प्पिणी और अर्प्पिणी दोनोंमें प्रत्येकके चार २ युग बतलाये हैं, तब जैनशास्त्रोंमें उत्सर्प्पिणी और अव-सर्प्पिणी अर्ध कल्पोंमें प्रत्येकमें छे काल होते लिखे हैं; अर्थात् (१) सुखमा-सुखमा, (२) सुखमा, (३) सुखमा-दुःखमा, (४) दुःखमा-सुखमा, (५) दुःखमा; और (६) दुःखमा-दुःखमा। यह क्रम अविसर्प्पिणी अर्धकल्पका है। उत्सर्प्पिणी अर्धकल्पमें प्रत्येक पदार्थकी उन्नति होती है, इसलिये उसका पहला काल दुःखमा-दुःखमा है और फिर इसी क्रमसे अन्यकाल समझना चाहिये। बौद्धोंने अपने उत्सर्प्पिणीके चार युग (१) कलि, (२) द्वापुर, (३) त्रेता, (४) और कृत बतलाये हैं। एवं उनके अर्प्पिणीके युगोंका क्रम इनसे बरअक्स है अर्थात् उसमें प्रथम युग कृत है और शेष भी इसी तरह क्रमवार हैं। इन युगोंके नाम ब्राह्मणधर्मके

1. Ibid.

समान हैं। इसतरह यह अनुमान किया जासक्ता है कि यहां भी बुद्धने अपनेसे प्राचीन धर्म जैन और ब्राह्मणसे उचित सहायता ग्रहण की थी।

अब पाठकगण, जरा आइए म० बुद्धके बताये हुये लोक-प्रलयका भी किञ्चित् दिग्दर्शन करलें। कहा गया है कि एक कल्पके प्रारंभमें वर्षा होती है—इसे 'सम्पत्तिकर—महा-मेघ' कहते हैं। यह उन सर्व व्यक्तियोंके समूहरूप पुण्यके बलसे उत्पन्न होता है, जो ब्रह्मलोकों और बाहिरी सकलोंमें रहते हैं। पहले बूंदें ओसकी तरह छोटी २ होतीं हैं, परन्तु वे धीरे २ बढ़ते हुये खजूरके पेड़ इतनी बड़ी होजातीं हैं। वह सब स्थान जहां पहलेके 'केललक्ष' लोक अग्निसे नष्ट होचुके हैं, अब ताजे पानीसे भर जाते हैं। यह ध्यान रहे कि बौद्धजन पहले सातवार अग्निद्वारा मनुष्यलोकका नाश होना मानते हैं। इसी तरह इस कल्पनाके प्रारंभमें यहां अग्निद्वारा नाश हुआ था। नष्ट हुये स्थान जहां जलसे भरे कि यह वर्षा बन्द हुई। वर्षाके बन्द होनेपर एक हवा चलती है, जिससे भरा हुआ पानी प्रायः सूख जाता है; केवल समुद्रोंके लायक ही पानी रह जाता है। इसके दीर्घकाल उपरान्त यहां शेखर (इन्द्र) का महल प्रकट होता है, जो सर्व प्रथम रचना होती है। महलके बाद नीचेके ब्रह्मलोक और देवलोककी सृष्टि होजाती है। इन्द्र इसी समय आकर कमलपुष्पोंको देखते हैं। यदि कमलपुष्प हुये तो जान लिया जाता है कि इस कल्पमें बुद्ध होंगे। बुद्धोंके वस्त्र, कमण्डल आदि भी यहीं उत्पन्न होजाते हैं। इन्द्र पृथ्वीका अंध-कार मेटकर इन वस्त्रादिको उठा ले जाता है। पहले लोकके नाश

होते समय यहांके पुण्यात्मा जीव अभस्सर ब्रह्मलोकमें जन्म ले लेते हैं। वही यहां फिर बसते हैं। उनका जन्म छायारूप (Apparitional) होता है। इसलिये उनके शरीरमें देवलोकके कतिपय लक्षण यहां भी शेष रह जाते हैं। उन्हें भोजनकी आवश्यक्ता प्रायः नहीं पड़ती; वे आकाशमें उड़ सक्ते हैं। उनके शरीरकी प्रभा इतनी विशद होती है कि उस समय सूर्य और चंद्रमाकी आवश्यक्ता ही नहीं होती है। इस हेतु वहां ऋतुयें भी नहीं होती हैं। और न दिनरातका भेद होता है। तथापि उन लोगोंमें लिङ्गभेद भी नहीं बतलाया गया है। कई युगों तक यह ब्रह्मलोकके वासी आनन्दसे इसीतरह यहां रहते हैं। उपरान्त पृथ्वीपर एक ऐसा पदार्थ उगता दिखाई पड़ता है जैसे दूधपर मलाई पड़ती है। एक ब्रह्म उसे उठाकर चाट लेता है। इसके स्वादकी चाट सबको पड़ जाती है और यह अधिक २ खाया जाता है। बस इसहीके बदौलत यह ब्रह्मलोग अपनी विशुद्धता गंवा देते हैं; जिससे इनके शरीरकी प्रभा मन्द पड़ जाती है। इसपर सूर्य-चन्द्र आदि प्रकाश देनेवाले पदार्थोंका प्रादुर्भाव होता है। इनकी उत्पत्ति भी वे मिलकर अपने पुण्यबलके प्रभावसे कर लेते हैं। बौद्ध धर्ममें नाश और उत्पत्ति व्यक्तियोंके पाप और पुण्यबलके कारण होते बतलाये गये हैं। इसतरह सूर्य-चन्द्रद्वारा किये गये दिन रातके भेदमें रहते हुए और पृथ्वीका पदार्थ खाते हुये इन लोगोंके शरीरोंकी त्वचा कड़ी पड़ जाती है, जिससे किसीका रंग काला और किसीका जरा स्वच्छ रहता है। इसपर यह आपसमें मान-घमंड करके लड़ते हैं। परिणामतः वह पदार्थ

लुप्त होजाता है और एक तरहका मक्खन-मिश्री-मिश्रित पदार्थ सिरज जाता है। इसपर भी लड़ाई होती है। आखिर लतादि उत्पन्न होते २ चांवल उत्पन्न होते हैं जिनको खानेसे इन लोगोंके शरीर आजकलके मनुष्यों जैसे होते हैं, जिससे कषाय और विषय-वासनायें आकर सतानें लगतीं हैं। इसपर वह ब्रह्मलोग जो पवित्रतासे रहते हैं अपने उन साथियोंको निकाल बाहर कर देते हैं जो विषयवासनाके वशीभूत होकर पवित्रतासे हाथ धो बैठते हैं। यह बहिष्कृत ब्रह्मलोग अलग जाकर एकान्तमें मकान बनाकर रहने लगते हैं। यहां रहकर वे आलस्यके प्रेरे कई दिनके लिये इकट्ठे चावल ले आने लगते हैं। इसपर चावल धान-रूपमें पलट जाते हैं और जहांसे एक दफे वे काटे गये वहां फिर वे नहीं उगने लगते हैं। इस दुर्भाग्यसे उन्होंको आपसमें खेतोंको बांट लेना पड़ता है; किन्तु कतिपय ब्रह्म अपने भागसे संतुष्ट नहीं होते हैं। सो वे दूसरोंके भागमेंसे धान चुराने लगते हैं। इसपर एक नियंत्रणकी आवश्यक्ता उत्पन्न होती है जिसके अनुसार सब ब्रह्म एकत्रित होकर अपनेमेंसे एकको अपना सरदार चुन लेते हैं। यह 'सम्मत' कहलाता है। वह खेतोंपर अधिकारी होनेके कारण ही 'खत्तियो' या क्षत्रिय नामसे प्रसिद्ध होता है। उसकी संतान भी इसी नामसे विख्यात् हुई। और इस तरह राज्यवंश अथवा क्षत्रिय वर्णकी उत्पत्ति होजाती है। उन ब्रह्मोंमें कतिपय ऐसे भी होते हैं जो बदमाशोंकी बदमाशी देखकर अपनेको संयममें रखनेका अभ्यास करने लगते हैं। इस अभ्यासके कारण वे ब्राह्मण कहलाते हैं और इसप्रकार ब्राह्मण वर्णकी सृष्टि हो जाती है। उनमें ऐसे भी

ब्रह्म होते हैं जो शिल्पादि कलाओंमें निपुण होते हैं और इस निपुणतासे वे सम्पत्ति एकत्रित करते हैं। यही लोग वैश्य नामसे प्रगट होते हैं। अन्ततः ऐसे भी नीच प्रकृतिके ब्रह्म हैं जो आखेट खेलते हैं। इसलिये वे लुद्द या सुद्द कहलाने लगते हैं। इसप्रकार प्राकृत चार वर्ण उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि मूलमें वह एक ही जाति ब्रह्मरूप होते हैं। इन्हींमेंसे जो गृह त्यागकर जंगलका वास गृहण करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। इसतरह संसार-प्रवाह चल जाता है। उपरान्त नियत समयमें पुनः अग्निद्वारा पृथ्वीका नाश होता है और इसी ढंगसे सृष्टि होती है। इसीतरह नियत समयमें अग्नि, जल और वायुसे नाश नियमानुसार होता रहता है; जिसका विशद विवरण बौद्ध ग्रन्थों अथवा Manual of Buddhismसे जानना चाहिये।

इसप्रकार म० बुद्धने इस पृथ्वीका नाश और उत्पादक्रम बतलाया था। इसमें भी जैन सदृशता बहुत कुछ दृष्टि पड़ रही है। जैनशास्त्रोंमें कहा गया है कि प्रत्येक अवसर्पिणी अन्तिम कालके अन्त समयमें (भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें ही) पानी सब सूख जाता है-शरीरकी भांति नष्ट हो जाता है। इस समय सब प्राणियोंका प्रलय हो जाता है। केवल थोड़ेसे जीव गंगा, सिंधु और विजयार्द्ध पर्वतकी वेदिकापर विश्राम पाते हैं। यह लोग मछली, मेढक आदि खाकर रहते हैं। तथापि अन्य दुराचारी जीव छोटे २ बिलोंमें घुस जाते हैं। साथ ही यह ध्यान रहे कि जैनधर्म और अग्निका लोप पांचवे ही कालमें हो चुकता है। तदनंतर सात दिनतक अग्निकी वर्षा, सात दिनतक शीत जलकी, सात दिनतक खारे पानीकी, सात दिनतक विषकी, सात दिनतक दुस्सह अग्निकी,

सात दिनतक धूलिकी और फिर सात दिनतक धूमकी वर्षा होती है। इसके बाद पृथिवीका विषमपना सब नष्ट हो जाता है और चित्रा पृथ्वी निकल आती है। यहीं अवसर्प्पिणीके अन्तिम कालका अन्त हो जाता है। और उत्सर्प्पिणीका प्रथम अति दुःखमा काल चलता है, जिसमें प्रजाकी वृद्धि होने लगती है। इसके प्रारम्भमें क्षीर जातिके मेघ सात सात दिनतक रातदिन बराबर जल और दूधकी वर्षा करते हैं जिससे पृथ्वीका रूखापन नष्ट हो जाता है। इसीसे यह पृथ्वी अनुक्रमसे वर्णादि गुणोंको प्राप्त होती है। इसके बाद अमृत जातिके मेघ सात दिनतक अमृतकी वर्षा करते हैं जिससे औषधियां, वृक्ष, पौधे और घास आदि पहले अविसर्प्पिणीके समान निरंतर होने लगते हैं। तदनंतर रसादिक जातिके बादल रसकी वर्षा करते हैं जिससे सब चीजोंमें रस उत्पन्न होता है। उत्सर्प्पिणी कालमें सबसे पहले जो मनुष्य बिलोंमें घुस जाते हैं वे निकलकर उस रसके संयोगसे जीवित रहने लगते हैं। ज्यों ज्यों काल वीतता जाता है त्यों २ शरीरकी ऊंचाई, आयु आदि जिन २ चीजोंकी पहले अविसर्प्पिणीमें कमी होती जाती थी उन सबकी वृद्धि होती है। उपरान्त दूसरे कालमें सोलह कुलकर होते हैं। इनके द्वारा क्रमकर धान्यादि और लज्जा, मैत्री आदि गुणोंकी वृद्धि होती है। लोग अग्निमें पकाकर भोजन करते हैं। दूसरेके बाद तीसरे कालमें भी लोगोंके शरीर आदि वृद्धिको प्राप्त होते हैं। इस समय २४ तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेते हैं। और प्रथम तीर्थंकर द्वारा कर्मक्षेत्रकी सृष्टि होती है। फिर चौथे कालमें शरीर, आयु आदिमें और वृद्धि होती है और उसके थोड़े ही वर्ष बाद वहां जघन्य

भोगभूमिकी स्थिति हो जाती है। इसीतरह पांचवे कालमें भी मध्यम भोगभूमिकी सृष्टि होती है और छट्ठे कालमें उत्तम भोगभूमिकी स्थिति रहती है। इसके साथ ही उत्सर्प्पिणी कालका अन्त और अवसर्प्पिणीका प्रारम्भ हो जाता है। जिसके प्रारम्भके साथ ही अवनति क्रम चालू होता है। हम जिस कालमें रह रहे हैं यह अवसर्प्पिणीका पांचवा काल है। इसके प्रारम्भके तीन कालोंमें यहां भोगभूमि थी। भोगभूमिमें युगल दम्पति जन्म लेकर आनन्दसे जीवन व्यतीत करते थे। कल्पवृक्षोंसे उनको भोगोपभोगकी सब सामिग्री प्राप्त होती थी। सूर्य-चन्द्र नहीं थे। माता-पिता आदि रिश्ते प्रचलित नहीं थे। यहांसे मरकर जीव नियमसे देवगतिको प्राप्त होते थे। अन्ततः तीसरे कालके अन्त होनेके कुछ पहिले १६ कुलकर उत्पन्न हुये थे; जिनके समयमें जिस २ बातकी तकलीफ लोगोंको हुई उसकी उन्होंने व्यवस्था की; क्योंकि क्रमकर कल्पवृक्ष तो ह्रासको प्राप्त होते जारहे थे। इनका विशद विवरण हमारे "संक्षिप्त जैन इतिहास" अथवा अन्य जैन ग्रंथोंमें देखना चाहिये। आखिर चौथे कालके प्रारम्भसे किञ्चित् पहले ही प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवजीका जन्म होगया था। इन्हीं द्वारा कर्मभूमिका प्रादुर्भाव हुआ। जनताको असि, मसि, कृषि आदि कर्म इन्होंने ही बतलाये। इसी समय चार वर्णोंकी स्थापना होगई। जिन्होंने जनताकी रक्षाका भार लिया वे क्षत्री हुये और जो व्यवसाय व शिल्पमें व्यस्त हुये वे वैश्य कहलाये और दस्युकर्म करनेवाले शूद्रवर्णके हुये। ब्राह्मणवर्णकी स्थापना उपरान्त सम्राट् भरत द्वारा व्रती श्रावकोंमेंसे हुई। इसतरह कर्मभूमिका श्रीगणेश हुआ। उपरान्त समयानुसार हर

आतकी अवनति चालू रही और समयानुसार तीर्थङ्कर भगवान एवं अन्य महापुरुष होते रहे। फिर भगवान महावीरके निर्वाणलाभसे कुछ महीने बादसे ही यह पंचमकाल प्रारंभ होगया था। इसमें भी ह्रासक्रम चालू है। इसके अन्तमें ही जैन धर्म और अग्निका लोप होजायगा। और फिर जो होगा वह उत्सर्प्पिणीकालके वर्णनमें बतलाया जाचुका है। इसतरह यह कल्पकाल है। यही विधि सर्वथा चालू रहेगी। म० बुद्धके कालक्रम और इसमें किंचित् सदृशता है। बाह्य रेखायें एक समान हैं; यद्यपि मूलमें अन्तर विशेष है। अस्तु;

यह भेद तो जान लिया, परन्तु भगवान महावीरके मतानुसार लोकका स्वरूप तो अभी तक नहीं जान पाया। अतएव आइये पाठकगण, अब यहांपर यह देखलें कि भगवान महावीरने लोकके विषयमें क्या कहा था ?

भगवान महावीरने भी असंख्यात् द्वीप समुद्र बतलाये थे, परन्तु उस सबके लिये स्वर्ग—नर्क आदि उन्होंने एक ही बतलाये थे उनके अनुसार वह लोक तीन भागोंमें विभाजित है और उसे तीन प्रकारकी वायुसे वेष्टित बतलाया गया है। यह तीन भाग ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक कहे गये हैं।

अधोलोकके सर्व अन्तिम भागमें 'निगोद' है। यह वह स्थान है जिसमें निगोद जीव रहते हैं। यह निगोद जीव एकेन्द्रीजीवसे भी हीन अवस्थामें हैं और अनन्त हैं। यहां स्पर्शन इन्द्री भी पूर्ण व्यक्त नहीं है। जीव समुदाय रूपमें इकट्ठे एक शरीरमें रहते हैं। इनकी आयु भी अत्यल्प है। वे एक श्वासमें १८ बार जन्मते

मरते हैं। इस निगोदमेंसे हमेशा नियमानुसार जीव निकलते रहते हैं और वे उस कमीको पूरी कर देते हैं जो जीवोंके मुक्त होजानेसे होती है। इसतरह यह जीवराशि कभी निबटती नहीं। यूंही अनादिनिधन है। जीव त्रस नाड़ीमें भ्रमण करते हैं।

जैनोंके तीन लोकके नकशेमें बताये हुये 'मध्यलोक' में ही वे सब संसार क्षेत्र हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। और इसके 'ऊर्ध्व' और 'अधो' लोकमें क्रमशः स्वर्ग और नर्क अवस्थित हैं। बुद्धने भी लोकको तीन 'अवचारों' (Regions) में अथवा 'धातुओं' में विभक्त बतलाया है: (१) काम धातु (२) रूप धातु और (३) अरूप धातु।[1] यहां भी जैन सिद्धान्तकी सादृश्यता दृष्टि पड़ती है। इसके अतिरिक्त बौद्ध शास्त्रोंमें नर्कगतिके और नर्कोंके जो वर्णन, पीड़ायें, वैतरनी नदी, इसे दुग्गति बतलाना, प्रेतों—असुरोंका स्थान, इत्यादि जैन धर्मके अनुसार बताये हैं।[2] किन्तु इतनेपर भी बुद्धदेवने नर्क उतने नहीं बतलाये हैं जितने जैन धर्ममें स्वीकृत हैं।

भगवान महावीरने नर्क सात बताये हैं और उनकी पृथिवियोंके नाम यों कहे हैं:—

(१) रत्नप्रभा—आलोक इसका रत्न कैसा है और यह गर्म है।
(२) शर्कराप्रभा—,, ,, शक्कर ,, ,, ,, ,,।
(३) वालुकाप्रभा ,, ,, रेत ,, ,, ,, ,,।
(४) पङ्कप्रभा— ,, ,, पङ्क ,, ,, ,, ,,।
(५) धूमप्रभा— ,, ,, धुयें ,, ,, ,, ,,।
केवल ३ लाख पटलोंमें—शेष ठंडा है।

१. हेवन्स एन्ड हेल्स इन बुद्धिस्ट पर्सपेक्टिव पृष्ठ ८३. २. पूर्व पृष्ठ ९२से जैन मान्यताकी तुलना करो. तत्वार्थसूत्र अ० ३

(६) तमप्रभा– „ „ अंधकार „ और सर्द है।
(७) महातमप्रभा–„ „ घोर अंधकार „ „ „

इन सबमें भिन्न२ संख्यामें ८४ लाख बड़े बिले हैं, जिनमें नारकी जन्म लेते हैं।

म० बुद्धने सामान्यतया ८ नर्क बतलाये थे; यद्यपि इनके अतिरिक्त वह और बहुतसे छोटे नर्क बतलाते थे। शायद वह इन्हीं आठके अन्तर्भाग हों। ये आठ इसप्रकार बताए गए हैं:–

(१) सञ्जीव, (२) कालसूत्र, (३) संघात, (४) रौरव, (५) महारौरव, (६) तापन, (७) प्रतापन और (८) अवीची। उत्तरीय बौद्धोंकी प्राचीन मानतामें इतने ही ठंडे नर्क भी थे।[1]

इसतरह बौद्धोंके नर्क सम्बन्धी विवरणमें बहुतसी बातें जैन धर्मसे मिलती जुलतीं हैं। वास्तवमें जैन धर्मसे बौद्ध धर्मकी जो सादृश्यता विशेष मिलती है वह म० बुद्धके प्रारंभिक जैन विश्वासके कारण ही समझना चाहिए। म० बुद्धने एक माध्यमिकके तरीके उस समय प्रचलित प्रख्यात् मतोंमेंसे कुछ न कुछ अवश्य ही ग्रहण किया था। ब्राह्मणोंके स्वर्ग–नर्क सिद्धान्तोंसे भी किंचित् सदृशता बौद्ध मान्यताकी बैठती है। यही कारण है कि सर्व प्रकारके विश्वासोंवाले विविध पन्थ अनुयायियोंको अपने धर्ममें लानेके लिये म० बुद्धने इसप्रकार क्रिया की थी, जिसके समक्ष उन्होंने अपने सिद्धान्तोंकी वैज्ञानिकता और औचित्यपर भी ध्यान नहीं दिया! किन्तु इस ओर उनके धर्मकी विशेष सदृशता जैनधर्मसे बैठती है, जो ठीक भी है; क्योंकि हम देख चुके हैं

1. हेवन्स एण्ड हेल्स इन बुद्धिस्ट परस्पेक्टिव पृष्ट ५४.

कि जैन धर्मका प्रभाव उनके जीवनपर किस अधिकतासे पड़ा था। दोनों मतोंमें व्यवहृत शब्द भी जैसे आचार्य, उपाध्याय, आश्रव, संवर, गंधकुटी, शासन आदि प्रायः एकसे हैं, यद्यपि यह बौद्ध धर्ममें बहुत करके अपने शाब्दिक भावको खो बैठे हैं।

नर्कोंके विवरणकी तरह स्वर्गलोकके विवरणका भी किंचित् सामञ्जस्य जैन मानतासे बैठ जाता है। भगवान महावीरने चार प्रकारके देव बतलाये थे; (१) भवनबासी (२) व्यन्तर (३) ज्योतिष्क (४) और वैमानिक। इन प्रत्येकके दस दर्जे हैं;[१] इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य, और किल्विषक। बौद्धोंके यहां भी प्रथम प्रकारके देव 'भुम्मदेव' के नामसे ज्ञात हैं।[२] दूसरे प्रकारके प्रेत, असुर आदि हैं।[३] तीसरे प्रकारके सूर्य, चंद्र, आदि बतलाये थे[४] और अन्तिम प्रकारके देव वह समझना चाहिये जो कामश्वरलोक आदिके विमानोंमें मिलते हैं।[५] इनमें अन्तिम प्रकारके देव ही स्वर्गलोकमें विमानोंमें रहते हैं। जैनसिद्धान्तमें बतलाया गया है कि यह विमान मेरुपर्वतके तनिक अन्तरसे ही तराजूके पलड़ोंकी तरह दो २ ऊपर २ अवस्थित हैं। यह कुल १६ हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर और सर्वार्थसिद्धि विमान हैं। इन ग्रैवेयकादिके निवासी देव सब पुरुषलिङ्ग ही हैं और कामवासनासे रहित हैं। यह अहमिन्द्र कहलाते

---

१. बौद्धोंके यहां भी यही क्रम कुछ २ मिलता है। उनके यहां 'त्रायस्त्रिंश' नामका एक अलग ही स्वर्ग है. २. हे० हे० इ० बु० प० पृष्ट ७. ३. पूर्व पृष्ठ ८१. ४. पूर्व पृष्ट ३१. ५. पूर्व पृष्ट २.

हैं। बुद्धने जो रूपलोकके स्वर्ग बताये थे, वह भी इस ही प्रकारके हैं।[1] जैनसिद्धान्तके लौकान्तिक देव जो ५ वें स्वर्गके सर्वोपरि भागमें अवस्थित ब्रह्मलोकमें रहते हैं और जो आत्मोन्नति विशेष कर चुके हैं कि दूसरे भवसे ही मोक्षलाभ करेंगे, वह भी बौद्धोंके ब्रह्मलोकके देवोंके समान हैं।[2] बौद्ध कहते हैं कि यह देव ब्रह्म-लोकमें विशेष ध्यान करनेके उपरान्त पहुंचते हैं। किन्तु इतनी सदृशता होनेपर भी बौद्धोंने जितने स्वर्ग बताये हैं उतने जैनसिद्धान्तमें स्वीकृत नहीं हैं; यद्यपि एक स्थानपर उनके यहां भी १६ ही बताये गये हैं। सचमुच बौद्धशास्त्रोंमें इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है वे सात, आठ, सोलह और सत्तरह भी बताये गये हैं।[3] किन्तु इतनेपर भी यह स्पष्ट है कि बौद्धोंके स्वर्ग विवरणमें भी जैनधर्मकी छाप लगी दृष्टिगत होती है। यहांपर उनका तुलनात्मक पूर्ण विवेचन करना कठिन है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि अन्ततः बौद्ध और जैन दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि स्वर्गलोकमें वही जीव जन्मते हैं जो विशेष पुण्य उपार्जन करते हैं। आत्मवाद परोक्षरूपमें म० बुद्धको भी अस्पष्टरूपसे स्वीकार करना पड़ा था, यह हम देख चुके हैं। जैनसिद्धान्तमें स्वर्गलोकसे मोक्षलाभ करना असंभव बतलाया है; बौद्ध देवोंद्वारा निर्वाणलाभ मानते हैं। किंतु यह बात दोनों ही मानते हैं कि देवोंमें विक्रिया शक्ति है और हेयसे हेय अवस्थाका जीव स्वर्ग सुखका अधिकारी हो सक्ता है। जैनशास्त्रोंमें कथा प्रचलित है कि जब राजा श्रेणिक भगवान महा-

---

१. हेवेन्स एण्ड हेल्स इन बुद्धिस्ट पर्सपेक्टिव पृष्ठ ८०... २. पूर्व पृष्ठ २. ३. पूर्व पृष्ठ १४.

वीरकी वन्दनाको विपुलाचल पर्वतको जा रहे थे, तब एक मेंढकके भी भाव भक्तिसे भर गए थे और वह भी भगवानके समोशरणकी ओर पूज्य भावोंका भरा हुआ जा रहा था कि मार्गमें राजाके हाथीके परसे दबकर मर गया और इस पुण्यभावसे वह देव हुआ। बौद्धोंके यहां भी एक ऐसी ही कथा "विशुद्धि मग्ग" नामक ग्रंथमें कही गई है।[१] फिर दोनों ही मत यह मानते हैं कि देवगतिमें भी देवगण अपने शुभाशुभ परिणामोंके अनुसार सुखदुखका अनुभव करते हैं; किन्तु दोनोंमें ऐसे भी देव माने गये हैं जो मोहके अभावमें दुःखका अनुभव करते ही नहीं हैं तथापि दोनोंही धर्मोंमें देवोंकि मरण समयका वर्णन भी प्रायः एकसा है। बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि स्वर्गसे चय होनेके कुछ ही पहिले उस देवके (१) वस्त्र अपनी स्वच्छता खो बैठते हैं, (२) मालायें और उसके अन्य अलंकार मुरझाने लगते हैं, (३) शरीरसे ओसकी तरहका पसीना निकलने लगता है, (४) और महल जिसमें उसका निवास होता है वह अपनी सुन्दरता गंवा देता है। (Manual of Buddhism P 141) जैनशास्त्रोंमें भी मरणके छै महीने पहिलेसे माला मुरझानेका उल्लेख मिलता है। साथ ही जैनसिद्धान्तमें देवोंके अवधिज्ञानका होना माना गया है, परन्तु बौद्धोंके यह स्वीकृत नहीं है।

इसप्रकार इन उक्त गतियोंमें परिभ्रमण करती हुई संसारी आत्मायें दुःख और पीड़ाको भुगतती हैं। किन्तु भगवान कहते हैं कि जो सत्यकी उपासना करते हैं और स्वध्यानमें लवलीन रहते हैं वे भेदविज्ञान (Discriminating sight) को पा जाते हैं।

१. पूर्व पृष्ठ १९

और भेदविज्ञान जहां एकवार प्राप्त हुआ कि वहां फिर सम्यक् मार्गमें दिवस प्रति दिवस उन्नति करते जाना अवश्यम्भावी है। जैनाचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

'गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥३३॥

भावार्थ—जिसने आत्मा और पुद्गलके स्वरूपको जानकर भेद-विज्ञान प्राप्त करलिया है—चाहे वह गुरूकी कृपासे प्राप्त किया हो अथवा वस्तुओंके स्वभाव पर बारम्बार ध्यान करनेसे या आभ्यन्तरिक आत्मदर्शनसे पाया हो—वह आत्मा मोक्ष सुखका उपभोग सदैव करता है।

भगवान महावीरने संसारजालसे छूटकर मोक्षलाभ करनेका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र कर संयुक्त बतलाया था। व्यवहार दृष्टिसे सम्यग्दर्शन पूर्वोल्लिखित जैन तत्वोंमें श्रद्धान करना है। इन्हीं तत्वोंका पूर्ण ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और जैनशास्त्रमें बताये हुये आचार नियमोंका पालन करना सम्यग्चारित्र है। किन्तु निश्चय दृष्टिसे यह तीनों क्रमशः आत्माका श्रद्धान्, ज्ञान और स्वरूपकी प्राप्ति हैं। सचमुच निश्चय सम्यक्चारित्र सिवाय आत्मसमाधिके और कुछ नहीं है। व्यवहारदृष्टि निश्चयका निमित्त कारण समझना चाहिये।

व्यवहार सम्यग्चारित्र दो प्रकारका है:—(१) एकदेश गृहस्थोंके लिये और (२) पूर्ण जो साक्षात् मोक्षका कारण है साधुओंके लिये। गृहस्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको धारण करता हुआ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहसे सम्यग्चारित्रका अभ्यास प्रारम्भ करता है। यद्यपि इससे नीचे दर्जेका गृहस्थ मात्र

श्रद्धानी मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलोंका ही त्यागी होता है। और सबसे नीचे दर्जेका व्यक्ति कोरा श्रद्धानी होता है। परन्तु उक्त पंचअणुव्रतोंके पालनसे वह व्रती गृहस्थ अथवा श्रावक सम्यग्चारित्रके मार्गमें क्रमशः उन्नति करना प्रारम्भ करता है। इस उन्नतिक्रमका विधान, भगवानने ११ प्रतिमाओंमें किया है। इन ११ प्रतिमाओंका अभ्यास करके वह साधुके व्रतोंको पालन करनेका अधिकारी होता है। इन प्रतिमाओंसे भाव, व्यक्तिविशेषकी आत्माने पूर्व प्रतिमासे जो उन्नति की है उसको व्यक्त करना है। इनमें विविध प्रकारके व्रत जैसे गुणव्रत, शिक्षाव्रत, सामायिक, प्रोषध इत्यादि गर्भित हैं। इन प्रतिमाओंको पूर्ण करके वह साधुओंके महाव्रतोंका अभ्यासी होता है। इस अवस्थामें वह उक्त व्रतोंको पूर्णरूपमें पालता है।

आत्म-समाधिकी प्राप्तिके लिये गृहस्थों और साधुओंके लिये नित्यके छै आवश्यक कर्तव्य बतलाये गए हैं। साधुओंके लिये वह इस प्रकार हैं।

---

१. बौद्धोंके शास्त्रोंमें भी जैन श्रावकके इस व्रतका उल्लेख है अर्थात् भगवान महावीरके समयसे अबतक यह व्रत अविच्छिन्न रूपमें यों ही चले आ रहे है। देखो अंगुत्तरनिकाय ३।७०।३. २. प्रौषध नियमका उल्लेख बौद्धोंके उक्त शास्त्रमें इस प्रकार है-'पोषध'के दिवस वे (निगन्थ=जैनी) एक श्रावकसे कहते है भाई, अब तुम अपने सब वस्त्र उतारकर एक और रख दो और कहो 'न कोई हमारा है और न हम किसीके हैं।' यह भी जैन विवरणसे प्रायः मिलता है। नग्नावस्थामें प्रोषध करनेका भी उल्लेख जैन शास्त्रोंमें है। (देखो सागारधर्मामृत पृष्ठ ४२१)।

'समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥'

अर्थात्-(१) स[illegible] सर्वके प्रति-सबमें समता भाव रखना, (२) स्तव-तीर्थङ्कर भगवानका स्तवन करना, (३) वन्दना-देवशास्त्र गुरुकी वंदना करना, (४) प्रतिक्रमण-कृतपापोंकी आलोचना करना, (५) प्रत्याख्यान अमुक२ पदार्थोंके त्याग करनेका नियम करना और (६) व्युत्सर्ग-अपनी देहसे ममता हटाकर उसे तपश्चर्यामें लगाना। इस प्रकार साधुके लिये यह नित्यप्रतिके 'षडावश्यक' बताये गये हैं। श्रावकके लिये भी छै बातोंका रोजाना करना लाजमी बतलाया गया है। जैसे कि आचार्य कहते हैं:-

" देवपूजागुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानञ्चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिनेदिने ॥"

पद्मनंदिपंचविंशतिका ।

अर्थात्-(१) जिन भगवानकी पूजा करना, उनके गुणोंको स्मरण करके। जिन प्रतिमायें ध्यानाकार होती हैं जिससे वे पुजारीके हृदयपर आत्मभावको अंकित करनेमें सहायक हैं। (२) गुरुजन-निर्ग्रन्थमुनि और साधुजनकी उपासना करना और उनकी शिक्षाओंको ग्रहण करना। (३) संयमका अभ्यास करना जिससे मन और इंद्रियोंपर अधिकार रहे; जैसे नियम करना कि मैं आज नाटक देखने नहीं जाऊंगा, केवल दोवार ही भोजन करूंगा, इतर फुलेल नहीं लगाऊंगा इत्यादि। यह साधारण नियम है, परन्तु आत्मोन्नतिमें सहायक है। (४) स्वाध्याय-शास्त्रोंका अध्ययन, अध्यापन और मनन करना। (५) सामायिक-अर्थात् एकान्त स्थानमें

प्रातः और सायंकालको बैठकर अथवा केवल प्रातःको बैठकर एक नियत समय तक तीर्थङ्कर भगवानके परमस्वरूपका अथवा आत्मगुणोंका चिन्तवन और ध्यान करना। इससे आत्मशक्ति बढ़ती है और समताभावकी प्राप्ति होती है। (६) दान आहार, औषधि, शास्त्र और अभयरूपी दान सब ही पात्रोंको देना चाहिये। इन छै आवश्यक बातोंको करनेसे उस आत्मदशाकी प्राप्ति होती है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र साक्षात्‌रूप विराजमान हैं। यही वह मार्ग है जिसमें कर्मोंका क्षय होता है और आत्मा विशुद्ध और स्वतंत्र होती जाती है।

आत्मस्थितिमें अथवा आत्मध्यानमें उन्नति करना गुणस्थान-क्रम बतलाया गया है। यह गुणस्थान कुल १४ हैं। इनका पूर्ण विवरण जैन शास्त्रोंसे देखना चाहिये, किन्तु यहां यह जान लीजिये कि १३ वें गुणस्थानमें पहुंचकर मुनि चार घातिया कर्मोंका अर्थात् ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहनीय और अन्तराय कर्मोंको, जो आत्माके स्वभावके घातक हैं, उनका नाश कर देता है और इस अवस्थामें केवलज्ञान—सर्वज्ञताको प्राप्त करके अर्हत् सयोगकेवली अथवा सकल सशरीरी परमात्मा होजाता है। यह जीवित परमात्मा दो प्रकारके होते हैं: (१) सामान्यकेवली और (२) तीर्थङ्कर। सामान्यकेवली स्वयं निर्वाणलाभ करते हैं एवं अन्योंको भी मोक्षमार्ग दर्शाते हैं, परन्तु उनके समवशरण आदिकी विभूति नहीं होती है। तीर्थंकरोंके समवशरण होता है और वे वहांसे 'तीर्थ' के भव्योंको मोक्षमार्गका सनातन उपदेश देते हैं। यह तीर्थ संघ चार प्रकारका होता है। (१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक, (४) श्राविका। इसी चतु-

निकाय संघको तीर्थंकर भगवान अपनी गंधकुटीसे प्राकृतिक रूपमें उपदेश देते हैं, जिसको सबकोई अपनी२ भाषामें समझ लेता है।

श्री नेमिचन्द्राचार्यजी अर्हंत भगवानका स्वरूप यों बतलाते हैं-

"णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरिय मइओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥"

अर्थात्-अर्हंत वह हैं जिन्होंने चार प्रकारके घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है और जो अनन्तचतुष्टय--अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतसुखकर पूर्ण हैं, जिनका शरीर अपूर्व प्रभामय और विशुद्ध है। वास्तवमें अर्हंत् भगवानके मोहनीयादि कर्मोंके अभावसे भूख, प्यास, भय, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, जरा, रोग, मृत्यु, पीड़ा आदि कुछ भी साधारण मानुषिक कमजोरियां शेष नहीं रहतीं हैं। इस अवस्थामें वे साक्षात् जीवित परमात्मा होते हैं, उनके शरीरकी प्रभा भी इस उच्चपदके सर्वथा उपयुक्त होती है। यही मालूम होता है मानो एक हजार सूर्य एकदम प्रगट होगये हैं। यह इच्छाओंसे सर्वथा रहित और बिलकुल विशुद्ध होते हैं। यह पंच-परमेष्टियोंमें सर्व प्रथम हैं, जिनकी उपासना आदर्शवत् जैनी करते हैं।

अतएव जब यह सशरीरी परमात्मा चौदहवें गुणस्थानमें पहुंच जाता है, तब वह अयोगकेवली-कम्परहित पूर्ण शुद्ध आत्मा (Non- Vibrating Perfect Soul) होजाता है। यह अवस्था उन भगवानको मोक्षप्राप्तिसे इतने अल्प समय पहिले प्राप्त होती है कि अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन पांच अक्षरोंका उच्चारण किया जासके। यह बहुत ही सूक्ष्म समय है। इसके बाद शरीरको त्यागकर आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें सदाके लिये तिष्ठ जाती है और सिद्ध कहाती

है। सिद्धभगवान फिर कभी लौटकर इस संसारावस्थामें नहीं आते हैं। वह सिद्धशिलामें तिष्ठे अपने स्वाभाविक आनंदका उपभोग सदा करते रहते हैं।

सिद्धभगवान एक पूजनीय परमात्मा हैं, जिनका यद्यपि संसारसे सम्बन्ध कुछ भी नहीं है, तो भी उनका चिंतवन शुभ भावों और आत्मध्यानके लिये एक साधन है। आचार्य कहते हैं:-

"णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो ॥ १॥"

भावार्थ-"नष्ट कर दिये हैं अष्टकर्म देहमे जिसने लोकालोक-का जाननेवाला और देखनेवाला देहरहित पुरुषके आकार लोकके अग्रभागमें स्थित ऐसा आतमा सिद्ध परमेष्ठी है सो नित्य ही ध्याया जावे अर्थात् स्मरण करने योग्य है।" अस्तु,

इस प्रकार भगवान महावीरने संसार सागरमें रुलती हुई आत्माओंको उससे निकलकर सच्चा स्वाधीन सुख पानेका मार्ग सुझाया था, जो पूर्ण स्वावलम्बन कर संयुक्त है। सारांशतः उन्होंने बताया था कि अनादिकालसे कर्मके कुचक्रमें पड़ी हुई आत्मा अपनी ही मोहजनित मूर्खताके कारण संसारमें भटकती हुई दुःख और पीड़ाका अनुभव कररही है, अतएव जब वह अपने निजी स्वभावको और परद्रव्योंके स्वरूपको स्वयं अपने अनुभव द्वारा अथवा गुरुके उप-देशसे हृदयङ्गम करलेती है तब यह रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्गका अनु-सरण करना प्रारम्भ करदेती है। तथापि दृढ़तापूर्वक उसका अभ्यास किये जानेसे एकदिन वह कर्मरूपी परतंत्रताकी बेड़ियां काट डालती हैं और स्वयं स्वाधीन होकर परमात्मावस्थाके परमोत्कृष्ट

स्वराज्यका उपभोग करती है। सच्चा स्वराज्य यही है, इसीको पानेका उपदेश भगवान महावीरने दिया था। इस हिंसक जमानेमें सच्चे भारतवासियोंको इस स्वराज्यप्राप्तिके मार्गमें दृढ़तासे कर्तव्य-परायण हो जाना परम उपादेय है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और अपरिग्रहका अभ्यास प्रारम्भ करना स्वयं उनकी आत्मा एवं भारतके हितका कारण है। अहिंसामें गंभीरता है, शौर्यता है। सत्यतामें दृढता है। जहां शौर्यता और दृढ़ता प्राप्त हुई वहां लोभ कषायको तिलाञ्जलि देते हुये आकांक्षा और वाञ्छाको नियमित किया जाता है और स्वावलम्बी बननेकी तीव्र अभिलाषा अपना जोर मारने लगती है जिसकी प्रेरणासे वह आत्माभिमुख हुआ वीर संयमका अभ्यासी हो जाता है और क्रमशः आत्मोन्नति करता हुआ पूर्ण स्वाधीनताको पालेता है। यही सच्चा सुख है। भारतीय-ताके लिये भगवान महावीरका उपदेश अतीव कल्याणकारी है। लोकके कल्याणकी भावनाका जन्म उसको आदर देनेसे होता है।

अब जरा आइये पाठकगण, म० बुद्धके विषयमें भी किञ्चित् और विचार करलें। दुःख और पीड़ा कहां हैं, कैसे हैं और किसको हैं, यह हम उनके बताये मुताबिक पहिले देख चुके हैं। उपरान्त उन्होंने इस दुःख और पीड़ासे छूटनेका उपाय यों बतलाया था।

" हे राजन्! सब ही अज्ञानी व्यक्ति इंद्रियसुखमें आनन्द मानते हैं, उन्हींकी वासनापूर्तिमें सुखी होते हैं, उन्हींके पीछे लगे रहते हैं। इसलिए वे मानुषिक कषायोंकी बाढ़में बहे चले जाते हैं। वे जन्म, जरा, मरण, दुःख, शोक, आशा, निराशासे मुक्त नहीं हैं। मैं कहता हूं वे पीड़ासे मुक्त नहीं होते हैं, किन्तु राजन्!

जो ज्ञानवान हैं, तथागतोंके अनुयायी हैं, वे न इंद्रियवासनाओंमें आनंद मानते हैं, न उनसे सुखी होते हैं और न उनके पीछे लगे रहते हैं, और जब वे उनके पीछे नहीं लगते हैं तो उनमें तृष्णाका अभाव हो जाता है। तृष्णाके अभावसे ग्रहण करना (Grasping) बन्द होजाता है। इसके बंद होनेसे भव धारण करनेका (Becoming) अन्त हो जाता है। और जब भवका ही नाश हो गया तब फिर जन्म, जरा, रोग, शोक, मृत्यु, पीड़ा आदि सब बन्द होजाते हैं। इस प्रकार इस अभावक्रमसे (Cessation) पीड़ाके समुदायका (Aggregation of Pain) का अन्त हो जाता है, बस यही अभाव निर्वाण है।" (मिलिन्द्पन्ह ३।४।५)

यह पीड़ाके अन्त करनेका मार्ग है और प्रायः ठीक ही है, परन्तु इसका क्रियात्मकरूप इसका भेद प्रगट कर देगा। इस मतको प्रगट करते हुये भी म० बुद्धके चारित्र नियम निर्माणमें इसको पूर्ण आदर नहीं दिया गया है। हम अगाड़ी यही देखेंगे। भगवान महावीरने भी इन्द्रियजनित विषयवासनाओंसे दूर रहनेका उपदेश दिया था, परन्तु म०बुद्धकी तरह उनका उद्देश्य 'पूर्ण अभाव' नहीं था। उनका उद्देश्य एक वास्तविक पदार्थ था जिसको पाकर आत्मा स्वाधीन परमात्मा हो जाता है। भगवान महावीर और म० बुद्धके मतोंमें यही विशेष दृष्टव्य अन्तर है। एक रङ्कसे राव बनानेका मार्ग है, दूसरा रंकसे अगाड़ी उठाकर उसका कुछ भी नहीं रखता है। अस्तु;

इसतरह म० बुद्धका सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य पूर्ण अभाव (Complete passing away) था और इसी उद्देश्यके लिए उनका

चारित्र नियम निर्मित था।[1] इस चारित्र नियममें आठ बातें गर्भित थीं; अर्थात् (१) सत्य दृष्टि (Right Views), (२) सत्य उद्देश्य (Right Aspirations), (३) सत्यवार्ता (Right Speech) (४) सत्य आचरण (Right Conduct), (५) सत्य जीवन (Right Livlihood), (६) सत्य एकाग्रता (Right Mindfulness), (७) सत्य प्रयास (Right Effect), (८) और सत्य ध्यान अवस्था अर्थात् मानसिक शांति (Right Rapture)।[2] इस अष्टाङ्ग मार्ग द्वारा ही संसारप्रवाहसे व्यक्तिको छुटकारा पाकर अपने उद्देश्यकी प्राप्ति होते मानी गई है। किन्तु यह अष्टांग मार्ग केवल भिक्षुओं और भिक्षुणियोंके लिये है। गृहस्थ अनुयायियोंकी गणना बौद्ध संघमें नहीं की गई है। इसका यही कारण है कि बुद्धने गृहस्थोंके लिये कोई खास आत्मोन्नतिक्रम नियत नहीं किया था, जैसा कि जैनधर्ममें (११ प्रतिमायें) है। सचमुच बौद्ध भिक्षुओंका जीवन भगवान महावीरके संघके इन व्रती श्रावकोंसे भी सरल था। बुद्धकी मान्यता थी कि सुविधामय सुखी सांसारिक जीवन व्यतीत करनेपर भी संसारसे मुक्ति मिल सक्ती है, परन्तु जैनधर्ममें यह स्वीकृत नहीं है।[3] वस्तुतः जबतक संसारसे बिल्कुल ही संबंध नहीं त्याग दिया जायगा तबतक कर्मोंसे छुटकारा मिलना असंभव है। बौद्ध साधुओंके सुविधामय जीवनकी अपेक्षा ही बौद्ध संघमें व्रती श्रावकोंको कोई भी स्थान प्राप्त नहीं था। हां, सामान्य ग्रहस्थ अनुयायी बुद्धदेवके थे, जैसे कि जैन संघमें संमिलित व्रती श्रावकोंके अतिरिक्त भगवान महावीरके साधारण श्रद्धानी श्रावक भी थे। अस्तु;

१ मिलिन्दपन्ह २।१।५. २. बुद्धिस्टफिलॉसफी पृष्ट ११८. ३. मज्झिमनिकाय १।९।१।

बुद्धदेवके उक्त अष्टांगमार्गमें ' साक्यपुत्तीयसमणों ' के लिये जो चारित्रनियम नियत थे, वह सब गर्भित हैं। बौद्ध आचारनियमोंमें जो 'शील' मुख्य माने गये हैं, वह भी इसीमें सम्मिलित हैं। बौद्धोंके यह ' शील ' जैनोंके १२ शीलव्रतों (५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत)से सामान्यतः मिलते जुलते प्रतीत होते हैं। बौद्धशास्त्रोंमें यह शील आठ बतलाये गए हैं; और बौद्ध साधुओंके लिये इनका पालन करना आवश्यक है। यह आठ इस प्रकार हैं:-(१) अहिंसा, (२) अचौर्य, (३) पाप और कामसेवनका त्याग, (४) सत्य, (५) मादकवस्तुओंका त्याग, (६) अनियमित समयों और रात्रिको भोजन करनेका त्याग, (७) नाचने, गाने, इतरफुलेलके व्यवहार आदिका त्याग, (८) और जमीनपर चटाई बिछाकर सोना।[1] इनमेंसे पहिलेके चार तो जैनियोंके अणुव्रतोंके समान ही दिखते हैं, किन्तु जैनियोंका पांचवां अणुव्रत बौद्धोंके पांचवें शीलसे नितान्त विभिन्न और विशुद्ध है। उपरोक्तमें शेष तीन जो रहे वे जैनियोंके शिक्षाव्रतके ही संक्षिप्त और विकृत रुपान्तर हैं। यह सामञ्जस्य जाहिरा इतना स्पष्ट है कि हमें यह कहनेमें संकोच नहीं है कि इन नियमोंको बुद्धने जैनधर्मसे ग्रहण किया था किंतु बुद्धके निकट इन नियमोंका वास्तविक महत्व प्रायः बहुत हल्का हो गया है। बौद्ध शास्त्रोंमें इनके लिये जो शब्द व्यवहृत हुये हैं, वह भी इसी बातके द्योतक हैं। ' दीघनिकाय ' (P. T. S. Vol. I. P. 4) में हिंसाके लिए 'पाणातिपातं'

---

१. हीस डेविड्सकी " बुद्धिज्म " पृष्ठ १३८. इन नियमोंसे प्रारंभके पांचका पालन करना बौद्ध गृहस्थोंके लिये भी आवश्यक बतलाया गया है।

चोरीके लिए 'अदिन्नादानं' कुशीलके लिये 'अब्रह्मचर्य' और 'असत्यके लिये 'मुसावाद' शब्द व्यवहृत हुये हैं। जैन शास्त्रोंमें भी ऐसे ही शब्द मिलते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि यहां भी जैन प्रभाव बाकी नहीं है। फिर महावग्ग और चुल्लवग्गमें जो बौद्ध नियमोंका निर्माणक्रम वर्णित है वह हमारी उक्त व्याख्याकी और भी पुष्टि करता है। इससे ज्ञात है कि बौद्ध नियम एकदम एक साथ निर्मित नहीं हुए थे। जैसे२ जिस बातकी आवश्यक्ता पड़ती गई वैसे वैसे वह स्वीकार की गई। साधुओंको आचार्य, उपाध्याय आदिमें विभाजित करना जैन धर्ममें ही मिलता है तथापि 'वस्सा' (चातुर्मास) नियम खास जैनियोंका हैं।[1] इसी तरह गंधकुटी, शासन, आश्रव, संवर आदि शब्द मूलमें जैनियोंके ही हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचारनियमोंको नियत करनेमें भी म० बुद्धने जैन आचारनियमोंसे सहायता ली थी।

किंतु इस विषयमें यह भूल जाना ठीक नहीं है कि यद्यपि

---

१. डॉ० जकोबीने जैन सूत्रोंकी भूमिकामें प्रगट किया है कि जैन और बौद्ध दोनोंने इन नियमोंको ब्राह्मण श्रोतसे ग्रहण किया था। किन्तु इस व्याख्याका प्रमाणित होना अभी शेष है कि सचमुच जैन धर्मकी उत्पत्ति ब्राह्मण धर्मके बाद हुई थी। अबतक जो कुछ भी शास्त्रीय और शिलालेखीय साक्षी प्राप्त हुई है वह जैनधर्मका अस्तित्व ब्राह्मण धर्मके साथ २ प्रकट करती है। स्वयं वेदोंमें जैन तीर्थंकरोंका नामोल्लेख है। तथापि ऋग्वेदमें (३।३।२१।१४) एक यज्ञद्रोही संप्रदायके रूपमें जैनधर्मके अस्तित्वको स्वीकार किया गया है। (देखो अंग्रेजी जैनगजट भाग २१) सिवाय अन्ततः डॉ० जेकोबीने जैनधर्मके प्राचीनतम अस्तित्वको स्वीकार किया है। (देखो जैन श्वे० कान्फ्रेन्स हेरल्ड भाग १० पृ० २५२-२५३)।

जैन आचारनियमोंसे बौद्ध नियमोंकी इतनी सदृशता है, परन्तु बौद्ध नियम जैन नियमोंके समान ही विशद और गंभीर नहीं हैं। एक व्रती श्रावकके पालन करने योग्य अणुव्रतों जितना भी महत्व उनका नहीं है। इस व्याख्याकी याथार्थता दोनों धर्मोंके नियमोंका तुलनात्मक विवेचन करनेसे स्वयं प्रमाणित हो जावेगी, किन्तु विस्तारभयके कारण हम यहांपर केवल दोनों धर्मोंके अहिंसानियमको लेते हैं। जाहिरा इसका भाव दोनों धर्मोंमें एक है; परन्तु एक बौद्ध श्रमण इसका पालन करते हुये भी मांस और मच्छीको भोजनमें ग्रहण करनेसे आगा पीछा नहीं करेगा।[1] इसके विपरीत एक जैन गृहस्थ उनका नाम सुनना भी पसन्द नहीं करेगा। यद्यपि वह जैन मुनियोंकी अपेक्षा बहुत नीचे दर्जेकी अहिंसाका पालन करता है।[2] बौद्ध भिक्षु स्वयं तो किसी जीवका बध नहीं करेगा, परन्तु यदि कहीं मृत मांस मिल जावे तो उसको ग्रहण करनेमें संकोच नहीं करेगा। स्वयं म० बुद्धने कईवार मांसभोज किया था।[3] वैशालीमें सेनापति सिंहके यहां जब मांसभोजन बुद्ध एवं बौद्ध साधुओंको कराया गया तो जैनियोंने उसी समय इसका प्रकट विरोध किया, किन्तु यह समझमें नहीं आता[4] कि जब बौद्ध गृहस्थोंके लिये भी अहिंसाव्रत लागू है तब वे किस तरह बौद्ध भिक्षुओंके लिये मांस भोजन तैयार करसकते हैं? परन्तु बौद्धशास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर मांस भोजन तैयार किये जानेका उल्लेख मिलता है और एक स्थलपर

१. महावग्ग ६।२३।२; २५।२;३१,११ और १४. २. रत्नकरण्ड श्रावकाचार। ३. अङ्गुत्तरनिकाय-अट्ठकनिपात-सहीसुत १२, महापरिनिब्बानसुत्त ४।१७।१८, अंगुत्तरनिकाय-पंचकनिपात-उग्गगहपतिसुत. ४. महावग्ग ६।३१.

जब मांस बाजारमें नहीं मिला तो बौद्ध गृहस्थिनने स्वयं अपनी जांघको काटकर मांस भोजन तैयार करके बौद्ध संघको खिलाया था यह उल्लेख है।[1] इससे स्पष्ट है कि म० बुद्धकी अहिंसा जैन अहिंसासे कितनी हेय प्रकारकी थी। जैन अपेक्षा वह हिंसा ही है। म० बुद्धने केवल प्रकटरीतिसे प्राणी बध करनेको-जैसे यज्ञमें होम कर पशुओंको नष्ट करनेका विरोध किया था। सूक्ष्म हिंसाकी ओर उन्होंने दृष्टिपात ही नहीं किया। यह खयाल ही नहीं किया कि मृत मांसमें भी कोटिराशि सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है, जैसे कि आजकल विज्ञान (Science)से भी प्रमाणित है। इस अवस्थामें भी मांसको खाना स्पष्टतः हिंसा करना है। इस तरह जैन अहिंसाका महत्व प्रकट है। स्वयं आधुनिक बौद्ध विद्वान् श्री धर्मानंद कोसाम्बीका निम्न कथन जैन अहिंसाकी विशेषताको प्रकट करता है। वह लिखते हैं कि "म० बुद्धपर यह आरोप था कि लोगोंके घर आमंत्रण स्वीकार करके वह मांस भोजन करते थे और गृहस्थ लोग उनके लिये प्राणियोंका बध करके वह मांस भोजन तैयार करते थे। जैन श्रमण दूसरेके घरका आमंत्रण स्वीकार नहीं करते। यदि खास उनके लिये कोई अन्न तैयार किया गया हो (उद्दिसकटं) तो वे उसको निषिद्ध समझते थे और अब भी समझते हैं, क्योंकि उसके तैयार करनेमें अग्निके कारण थोड़ी बहुत हिंसा होती ही है और स्वीकार करनेसे श्रमण उस हिंसाका मानो अनुमोदन ही करता है। अहिंसाकी यह व्यापक व्याख्या बुद्धभगवानको पसंद नहीं थी। जानबूझकर किसी भी प्राणीको क्रूरता-

१. Vinaya Texts.

पूर्वक न मारना चाहिये, सिर्फ यही उनका कहना था, "[1] अतएव म० बुद्धके चारित्रनियम जैनधर्मके अणुव्रतोंसे भी समानता नहीं करसक्ते यह प्रकट है। वास्तवमें जिसप्रकार सिद्धान्त विवेचनमें म० बुद्धने वैज्ञानिकता और पूर्णताका ध्यान नहीं रक्खा वैसे ही चरित्रनियमोंके विषयमें देखनेको मिलता है। एक आधुनिक विद्वान् इस विषयमें जो लिखते हैं वह द्रष्टव्य है:-

"परीक्षा करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि बौद्धधर्मका सुन्दर आचार वर्णन एक कंपित नींवपर स्थिर है। हमें वेदोंकी प्रमाणिकताका निषेध करना है, अच्छी बात है। हमें अहिंसा और त्यागका पालन करना है, अच्छी बात है। हमें कर्मोंके बन्धन तोड़ने हैं, अच्छी बात है, परन्तु सारे संसारके लिए यह तो बताइये हम हैं क्या ? हमारा ध्येय क्या है ? स्वाभाविक उद्देश्य क्या है ? इन समस्त प्रश्नोंका उत्तर बौद्धधर्ममें अनूठा पर भयावह है, अर्थात 'हम नहीं हैं'। तो क्या हम छायामें श्रम परिश्रम कर रहे हैं ? और क्या अंधकार ही अंतिम ध्येय है ? क्यों हमें कठिन त्याग

---

१. पुरातत्व भाग ३ पृष्ठ ३२७.

इसी लेखमें बौद्ध लेखकने जैन श्रमणोंपर मांस भक्षणका आरोप करनेका प्रयत्न श्वे० ग्रन्थोंके आधारसे किया है, किन्तु आचाराङ्गसूत्रके जिस अंशको उन्होंने पेश किया है, उसका अनुवाद डॉ० जैकोबीने (Jain Sutras I.) में वह नहीं किया है जो इन बौद्ध लेखकने दिया है। इसलिये इस अंशसे भी वह आरोप प्रमाणित नहीं है। फिर यदि जैन श्रमण मांस भोजन करते होते, तो क्या बौद्ध इनको यों ही छोड़ देते जब वे वैशालीमें उनका खुला विरोध कर रहे थे ? स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंसे जैन श्रमणोंकी निरामिषता प्रमाणित है। (देखो दी जैन होस्टल मैगजीन भाग ६ नं० २ पृष्ठ ८-२१ और इन्डियन हिस्टोरीकल क्वारटर्ली भाग २ अंक ४)

करना है और हमें क्यों जीवनके साधारण इंद्रियसुखोंका निरोध करना चाहिए! केवल इसलिए कि शोकादि नष्टता और नित्य मौन निकटतर प्राप्त हो जावें। यह जीवन एक भ्रान्तवादका मत है और दूसरे शब्दोंमें उत्तम नहीं है। अवश्य ही ऐसा आत्माके अस्तित्वको न माननेवाला विनश्वरताका मत सर्वसाधारणके मस्तिष्कको संतोषित नहीं कर सक्ता! बौद्धमतकी आश्चर्यजनक उन्नति उसके सैद्धांतिक नश्वरवाद (Nihilism) पर निर्भर नहीं थी; बल्कि उसके नामधारी "मध्यमार्ग" की तपस्याकी कठिनाईके कम होनेपर ही थी।"[१]

बौद्ध धर्ममें अगाड़ी कहा गया है कि वह व्यक्ति जो बुद्ध धर्म और संघमें खासकर बुद्धमें–श्रद्धा प्राप्त करलेता है और मोह-जनित अज्ञानता (Delusion) को छोड़ देता है वह आभ्यन्तरिक दृष्टि (Inner sight) को पाकर अन्ततः अर्हत् हो जाता है।[२] बुद्धने जिस समय सर्व प्रथम कौन्डन्यको* अपने मतमें दीक्षित किया तो उन्होंने कहा कि 'अन्नासि वत भो कोन्डण्णो !' अर्थात् सच-मुच कोन्डन्यने जान लिया है। क्या जान लिया है? वही मार्ग जिसको बुद्धने देखा था (अन्नात=Has that which is perceived).[३] इसके साथ वह अर्हत् कहलाने लगा। वास्तवमें बुद्धके प्रारंभिक शिष्य अपनी उपसम्पदा ग्रहण करनेके साथ ही 'अर्हत्'

---

१. जैनगजटमें मि० हरिसत्यभट्टाचार्य एम.ए. आदि भाग १९ अंक ५. २ कीथ्स बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ १२२. ३ विनय-टेक्स्ट्स १५८.

*कौन्डन्य गोत्रके कई साधुओंका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके जैन शिलालेखोंमें है। इसलिए इन कौन्डन्यकुलपुत्त नामक भिक्षुको जो हमने पहले जैन मुनि बतलाया है, वह ठीक है।

कहलाने लगे थे, जैसे कि हम देख चुके हैं। इस अवस्थामें बौद्धोंके निकट 'अर्हत्' शब्द कितने हल्के अर्थमें व्यवहृत होता था, यह स्पष्ट है। स्व० मि० र्‍हीसडेविड्स हमको यही विश्वास दिलाते हैं कि 'व्यक्तित्वकी अज्ञानताके नाशसे जो विजय प्राप्त होती है, वह गौतमबुद्धकी दृष्टिसे, इसी जीवनमें और केवल इसी जीवनमें प्राप्त करके भोगी जासक्ती है। यही भाव बौद्धोंकी अर्हतावस्थासे है। अर्हत् वह है जिसका जीवन आंतिरिक दृष्टिसे पूर्ण बन गया है, जो 'उत्तम अष्टांग मार्ग' का बहुत कुछ अभ्यास कर चुका है और जिसने बन्धनोंको तोड़ दिया है एवं जिसने बौद्ध धर्मके चारित्र नियम और संयमका पूर्णतः अभ्यास कर लिया है।'[1] यह बौद्धोंके अर्हत्‌का स्वरूप है। जिस समय व्यक्ति अष्टाङ्गमार्गका पूरा अभ्यास कर लेता है और ध्यान आदिमें भी उन्नति प्राप्त कर चुकता है, बुद्ध कहते हैं, उसे आर्य ज्ञानका प्रकाश दृष्टि पड़ता है। यह म० बुद्धका 'निर्वाण' है और व्यक्तिके मरणके पहिले ही यह प्राप्त होता है।[2] अंतिम मरण 'परिनिव्वान' है। 'निव्वान' अवस्थामें आनन्दकी प्राप्ति होती है, परन्तु इसके उपरान्त व्यक्तिकी क्या दशा होती है इसपर बुद्ध चुप हैं। यदि कहीं यह मौन भङ्ग किया गया है तो वहां स्पष्टताका अभाव है। कभी पूर्ण नाशका प्रतिपादन है तो कभी किसी यथार्थ दशाका। किन्तु पूर्ण अभावको ही प्रधानता प्राप्त है। परिनिव्वानमें व्यक्तिका पूर्ण क्षय (खय) हो जाता है। यही म० बुद्धका परम उद्देश्य है।

---

१. बुद्धिज्मः इट्स हिस्ट्री एन्ड लिटरेचर पृष्ठ १६३. २. बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ठ ६१.

प्रकट रीतिसे हम म० बुद्धके बताये हुए अर्हत् और निर्वाण पदोंकी तुलना जैनसिद्धान्तके क्षायिक सम्यक्त्व और अर्हत पदसे क्रमशः कर सक्ते हैं; किन्तु यह तुलना केवल बाह्यरूपमें ही है। मूलमें बौद्धोंके अर्हत्पदकी समानता जैनोंके अर्हत्पदसे नहीं की जासक्ती। प्रत्युत बाह्यरूपमें जैन अर्हतावस्थाके समान म० बुद्धका निव्वानपद भी है; जिसका विवरण जाहिरा जैनविवरणसे सदृशता रखता है; यद्यपि मूलमें वहां भी पूर्ण भेद विद्यमान है। अस्तु;

इस प्रकार म० बुद्ध और भगवान महावीरका उपदेश वर्णन है और यहां भी दोनोंमें पूरापुरा अन्तर मौजूद है। भगवान महावीरका दिव्योपदेश एक सर्वज्ञ परमात्माके तरीके बिल्कुल स्पष्ट, पूर्ण और व्यवस्थित, वैज्ञानिक ढंगका प्रमाणित होता है। म० बुद्धका उपदेश तत्कालीन परस्थितिको सुधारनेकी दृष्टिसे हुआ प्रतीत होता है और उसमें प्रायः स्पष्टताका अभाव देखनेको मिलता है। वास्तवमें न म० बुद्धको ही अपने उपदेशकी सैद्धांतिकताकी ओर ध्यान था और न उनके अनुयायियोंको। उनके उपदेशकी मान्यता जो इतनी विशद हुई थी उसमें उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व कारण था! उनके निकट पहुंचकर व्यक्ति मोहनमंत्रकी तरह मुग्ध हो जाता था और उसे उनके ध .के औचित्वको जाननेकी खबर ही नहीं रहती थी।[1] इसी ब तको लक्ष्य करके उनका उपदेश भी विविध मान्यताओंको लिये हुये था। प्रत्येक मतके अनुयायीको अपना भक्त बनानेके लिये म० बुद्धने अपने सिद्धांतोंको

१ बुद्धिस्ट फिलासफी पृष्ट १४-१५ और के० जे० सॉन्डर्स गौतमबुद्ध पृष्ट ७५।

प्रायः सर्व मतोंसे मिलता जुलता रक्खा था; परन्तु इस दशामें भी वह सफलमनोरथ नहीं हुये। लोगोंको अनैक्यतामें ऐक्यताके दर्शन नहीं हुए और न उन्हें वह सुख मार्ग मिला जिससे उनके जीवन पूर्ण सुखके भोक्ता बनते, परन्तु इतनेपर भी हम म०बुद्धके सांसारिक पीड़ाओं और दुःखोंके वर्णनकी प्रशंसा किये विना नहीं रह सक्के। उन्होंने इसके प्रगट दर्शन किये थे और उसको बड़ी खूबीसे शब्दोंमें चित्रित किया था।

भगवान महावीरने वस्तुस्थितिको प्रतिपादित किया था और संसारकी प्रत्येक अवस्थाके प्राणीके लिये एक सच्चे सुखका मार्ग निर्दिष्ट किया था तथापि इस प्रतिपादनशैलीमें उनका 'स्याद्वाद सिद्धान्त' विशेष महत्वका था। उसके अनुसार वस्तुकी प्रत्येक दशाका सच्चा ज्ञान प्राप्त होता था। परिमित बुद्धि और दृष्टिको रखते हुये संसारी आत्मा पदार्थके पूर्णरूपको एक साथ शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं करसक्ता। वह पदार्थके एक देशको ही ग्रहण कर सक्ता है। इसलिये पदार्थके पूर्ण स्वरूपको जाननेके लिए स्याद्वाद सिद्धान्त परमावश्यक है। आप्तमीमांसा, स्याद्वादमञ्जरी, सप्तभंगितरङ्गणी आदि ग्रन्थोंमें इसका पूर्ण विवेचन दिया हुआ है। यहां पर इसका सामान्य दिग्दर्शन कराना भी कठिन है। इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि इसकी सहायताके विना हमारा किसी पदार्थका विवरण अधूरा रहेगा। मान लीजिये यदि हमें मोहनके गृहस्थी अपेक्षा व्यक्तित्वको प्रकट करना है, तो हम केवल उसको उसके पुत्रकी अपेक्षा 'पिता' कहकर पूर्णतः प्रकट नहीं करसके;

क्योंकि वह अपने पिताकी अपेक्षा 'पुत्र', भानजेकी अपेक्षा 'मामा' भतीजेकी अपेक्षा 'चाचा' आदि है। स्याद्वाद सिद्धान्त इन्हीं सब सम्बंधोंको अपनी अपेक्षा दृष्टिसे पूर्ण व्यक्त कर देता है, जिसको सामान्य व्यक्ति अन्यथा कहनेको समर्थ नहीं है। वह एक सर्वज्ञ परमात्माके ही संभव है कि वह एक वस्तुका एकसा पूर्ण वर्णन प्रकट कर सके। जिस तरह सामान्य बातें स्याद्वाद सिद्धांतसे पूर्ण प्रकट होती हैं उसी तरह सैद्धांतिक विवेचन भी इसीकी सहायतासे पूर्णताको प्राप्त होता है। बौद्ध दर्शनके न्यायमें स्याद्वाद सदृश कोई नियम हमको नहीं मिलता है। यही कारण है कि म० बुद्धका वक्तव्य एकांत मतको लिये हुये है। उन्होंने कहा:—

आकिञ्चञ्ञं पेक्खमानो सतीमा उपसीवाति भगवा-
न' अत्थीति निस्साय तरस्सु ओघम्।
कामे पहाय विरतो कथा हि-
तन्हक्खयम् रत्तमहाभि पस्स ॥ १०६२ ॥ सुत्तनिपात् ॥

अर्थात्–हे उपसिव! दृष्टिमें शून्यको रखते हुए, विचारवान बनते हुये और किसी वस्तुके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते हुये ध्यान करना चाहिये। इंद्रियवासनाओं आदिके त्यागसे ही संसार-समुद्रसे पार उतरकर इच्छाके अभावका अनुभव किया जायगा। इसी तरह 'धम्मपद' में कहा गया है कि:—

"दुनियाको पानीका बबूला समझो, वह मृगतृष्णाका नजारा है। जो इस प्रकार दुनियाको देखता है, उसे यमराजका भय नहीं रहता है।" (१३।१७०) "सर्व ही पदार्थ नाशवान हैं, जो इसको जानता और देखता है उसके दुःखका अन्त होजाता है।

यही पवित्रताका मार्ग है।" (२०।२७७) भगवान महावीरके स्याद्वाद सिद्धान्तमें इनका उपदेश एकांत दृष्टिसे नहीं किया गया है। उसका श्रद्धानी स्पष्ट प्रकट करता है कि:—

'एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥२६
सामायिकपाठ॥'

अर्थात्—'मेरा आत्मा अपने स्वभावमें सदैव एक है, नित्य है, विशुद्ध है और सर्वज्ञ है। शेष जो हैं वे सब मेरेसे बाहिर हैं, अनित्य हैं और कर्मके ही परिणाम रूप हैं।' इसीलिए:—

'संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्॥२८

अर्थात—'शरीरके संयोगमें पड़ा हुआ यह आत्मा विविध प्रकारके दुःखोंका अनुभव करता है। इसलिये जिन्हें अपनी आत्माकी मुक्ति वांछनीय है उन्हें इस शारीरिक सम्बन्धको मन, वचन, कायकी अपेक्षा त्यागना चाहिये।'

इसतरह स्याद्वादकी अपेक्षा वस्तुका यथार्थरूप प्रकट होजाता है। म० बुद्धकी तरह भगवान महावीरने भी संसारको अनित्य और नाशवान प्रकट किया है, किन्तु यह केवल व्यवहार नयकी अपेक्षा है, जिसके अनुसार संसारमें पर्यायें उपस्थित होती रहती हैं। मूलमें संसारके सामान्य अपेक्षा संसार नित्य है, क्योंकि संसार—प्रवाहका कभी अन्त नहीं होता है। इसीलिए जैनदर्शनमें द्रव्यकी व्याख्या "सद द्रव्यलक्षणम्॥ २९॥ उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत॥३०॥५॥" की है। अर्थात द्रव्य सत्तावान नित्य है

और यह वही है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य कर संयुक्त है। इसतरह वस्तुओंके यथार्थ और व्यावहारिक दोनों रूपोंका विवरण वास्तविक रीत्या जैन धर्ममें दिया हुआ है। बौद्ध धर्मके समान एकांत वादको यहां आदर प्राप्त नहीं है। इसलिए उचित रीतिमें ही आचार्य मल्लिसेन भगवान महावीरका यशोगान करते हैं:—

"अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषा नविशेषमिच्छन् न पक्षपातो समयस्तथा ते ॥"

भावार्थ—भगवन्! आपकी वह पक्षपातमय एकान्त स्थिति नहीं है, जो कि उन लोगोंकी है जो एक दूसरेके विरोधी और आपके मतसे विपरीत हैं; क्योंकि आप उसी वस्तुको अनेक दृष्टियोंसे प्रतिपादित करते हैं।

इसतरह जैन सिद्धांत—स्याद्वादका महत्व प्रकट है। सचमुच यदि इसका उपयोग हम अपने दैनिक जीवनमें करें तो हमारी धार्मिक असहिष्णुताका अन्त हो जावे। सब प्रकारके सिद्धान्तोंकी मानताकी असलियत इसके निकट प्रगट होजाती है। यही कारण है कि भगवान महावीरके दिव्योपदेशके उपरांत उस समयमें प्रचलित बहुतसे मत मतांतर लुप्त होगये थे और मनुष्य सत्यको जानकर आपसी प्रेमसे गले मिले थे। इसप्रकार भगवान् महावीर और म० बुद्धके धर्मोंका दिग्दर्शन करके हम अपने उद्देशित स्थानको प्रायः पहुंच जाते हैं अर्थात् भगवान् महावीर और म० बुद्धकी विभिन्न जीवन घटनाओंका पूर्ण दिग्दर्शन कर चुकते हैं।



(७)

उपसंहार ।

भगवान् महावीर और म० बुद्धके विभिन्न जीवन एक दूसरेके नितान्त विपरीत थे, यह अब हमें अच्छी तरह ज्ञात है। हम जिस आशाको लेकर इस ओर प्रयत्नशील हुये थे, वह प्रायः फलवती दिखाई पड़ रही है। उसके फलके अनुसार भगवान् महावीरके सम्बंधमें जो मिथ्या भ्रम फैल रहा है उसका वास्तविक निराकरण हमारे नेत्रोंके अगाड़ी है। हम जानते हैं कि भगवान् महावीर म० बुद्धसे अलग एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। उन्होंने म० बुद्धकी तरह किसी नवीन मतकी स्थापना नहीं की थी; बल्कि पहिलेसे जो जैनधर्म चला आरहा था, उसका पुनरुत्थान मात्र किया था। जैन धर्मकी स्थापना म० बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्मका परिवर्तन होनेके बहुत पहिले हो चुकी थी!

किन्तु इसमें संशय नहीं कि भारतके ये दो चमकते हुये रत्न सार्वभौमिक प्रकाशको पा रहे हैं। इन दोनों युगप्रधान पुरुषोंका व्यक्तित्व प्रारम्भसे ही एक दूसरेसे विभिन्न रहा है। अथ च नन्हीं अवस्थासे ही वह अतीव प्रभावशाली था। अहिंसाका दिव्य उपदेश उनके व्यक्तित्वसे किस तरह प्रगट होरहा था यह हम प्रगट कर चुके हैं। सचमुच भगवान् महावीरके दिव्य जीवनमें मुख्यता यह थी कि वह यथार्थ सत्यके अन्वेषीका एक अनुपम आदर्श था। अनुपम इसलिये था कि उन्होंने अध्ययन, मनन और तपश्चरण द्वारा पूर्ण उत्कृष्टताके परमात्म पदको उस ही जीवनमें प्राप्त कर लिया था। जरा विचारिये तो कि ज्ञानोपार्जनका मार्ग

कितना नीरस है! उसमें पगपगपर विविध संशयात्मक विषयों और भयानक ध्येयसे विचलित करनेवाले कन्टकोंका समागम होता है। किन्तु भगवान् महावीरका अपूर्व साहस और शौर्य इन सब कठिनाइयोंपर विजयी हुआ था। उनको आत्माकी अपूर्व ज्ञानादि शक्तियोंमें दृढ़ श्रद्धान था। उसीके अनुरूप उन्होंने नियमित ढंगसे उस परमोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त करनेके अतुल प्रयत्न किये थे। परिणामतः वह ज्ञान एवं प्रकाशके सनातन स्थानको प्राप्त हुए थे। इस सर्वज्ञावस्थामें उन्होंने वस्तुस्थितिरूपमें वैज्ञानिक रीतिसे प्रत्येक पदार्थका निरूपण किया था, जिससे सर्व प्रकारकी शंकाओंका अन्त होकर बुद्धिकी संतुष्टि होगई थी। उनके वैज्ञानिक धर्मोपदेशमें प्रत्येक आत्माकी स्वाधीनता सिद्ध हो गई थी। प्रत्येक प्राणीको अपने ही शुभाशुभ कर्मोंमें सुख-दुःखका कारण प्रतीत होगया था और यह भी भान होगया था कि वे प्रत्येक अपने ही पुरुषार्थके बल परम सुखी होसक्ते हैं। अन्य कोई उनको सुखी नहीं बना सक्ता। जिस समय वह स्वयं परावलंबिताकी उपेक्षा करके स्वावलम्बी बनकर सन्मार्गका अनुसरण करेगा तब ही उसको आनंदमय दशाका अनुभव प्राप्त होगा। परतंत्रताको नष्ट करना ही उसमें मुख्य था। इसके साथ ही उनका उपदेश व्यक्तिको उदारताका पाठ पढ़ानेवाला था। हृदयसंकीर्णता बुरी है! एकान्त दृष्टि मिथ्या है। अनेकांतका आश्रय लेना उपादेय है। अनेकांतीके निकट सर्व मतोंके आपसी विरोध और उलझी गुत्थियां सहजमें सुलझ जाती हैं। तथापि उदार दृष्टिको रखते हुये भी कोरी बाह्य क्रियायोंसे पूर्ण कर्मकाण्ड अथवा इंद्रियलिप्साके मार्गमें फंसा रहना भी कार्यकारी

नहीं है। यह भगवान् महावीरके चरित्र और उपदेशसे स्पष्ट प्रगट है। उद्देश्य प्राप्तिके लिये अपनी परमोत्कृष्ट अवस्थामें भगवानने एक नितान्त, सरल और वैज्ञानिक मार्ग बतलाया था, जैसे कि हम देख चुके हैं। इस मोक्षमार्गपर चलता हुआ प्राणी साम्य भावका पक्का हिमायती होता है। प्रत्येक जीवात्माको अपने समान समझकर वह किसी भी प्राणीको मन, बचन, काय द्वारा कष्ट नहीं देता है। तथापि गृहस्थावस्थामें रहते हुये भी वह नियमित ढंगसे सांसारिक कार्योंको पूर्ण करता है। इस रीतिसे वह अपना जीवन व्यवहार बनाता है कि वह स्वयं उद्देश्य प्राप्तिकी ओर अग्रसर होता जाय और दूसरोंको भी उस ओर चलनेमें सहायता दे! सचमुच भगवानका दिव्योपदेश सार्वभौमिक प्रेम, शौर्य और सहनशीलताका खासा पाठ पढ़ाता है; जिसका पालन करनेसे केवल भारतका नहीं, प्रत्युत समग्र मानव समाजका दुःख सर्वथा नष्ट होसक्ता है। इस प्रकार उत्तम और सरल जीवन व्यतीत करनेका विधान हमें अन्यत्र कठिनतासे मिलता है। इसका कारण यही है कि भगवानने अटल विश्वासके साथ घोर परिश्रम करके अपने पुरुषार्थके बल उस परमोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त कर लिया था जिसमें ज्ञान और प्रकाश स्वयं मूर्तिमान् हो आ बिराजते हैं! अतएव भगवानका दिव्य जीवन हमको ज्ञानोपार्जनमें पूर्ण दत्तचित्त रहनेका प्रगट उपदेश देरहा है।

म० बुद्धको भी आर्योंके उत्कृष्ट ज्ञानमें दृढ़ श्रद्धान था वह इतना अटल था कि छः वर्षकी कठिन तपस्या करनेपर भी जब उनको उसकी प्राप्ति नहीं हुई तब भी उनका विश्वास उसमेंसे जरा भी ढीला न पड़ा! उन्होंने यही कहा कि इस कठिन मार्गके अति-

रिक्त उसको प्राप्त करनेका कोई दूसरा मार्ग होना चाहिये। परिणामतः उन्होंने उसकी प्राप्तिका एक मध्य मार्ग ढून्ढ लिया। उस समय उन्हें इस दृढ़ श्रद्धानके अनुरूप साधारण ज्ञानसे एक उच्च प्रकारके ज्ञानकी प्राप्ति हुई थी, जैसे कि हम देख चुके हैं। वास्तवमें पुरुषार्थ अकारथ जानेवाला न था। उन्होंने अपने उस मध्यमार्गका प्रचार सर्वत्र किया। यद्यपि पूर्ण सर्वज्ञताके अभावमें उनका धर्मोपदेश पूर्णता और सैद्धांतिकतासे रहित था; परन्तु उन्होंने तात्कालिक आवश्यक सुधारसे अपनी मोहनी सूरतके बल उसका बहुत कुछ प्रचार कर लिया। उस समय लोग आपसी विवादोंमें ही समय नष्ट करते थे, उन्होंने उसको अधर्ममय ठहरा कर एक नियमित ढंगसे जीवन व्यतीत करनेका उपदेश दिया। सार्वभौमिक प्रेमका उपदेश उन्होंने भी दिया था; किन्तु वह पूर्णतः सबके लिये समान हितकारी नहीं था। बिचारे निरापराध पशुओंको यद्यपि यज्ञवेदीसे बहुत कुछ छुटकारा मिल गया था, परन्तु मनुष्योंकी जिह्वा लम्पटताके कारण उनके प्राण संकटमें ही रहे थे। बुद्धने इस ओर ध्यान नहीं दिया। किन्तु इस असैद्धांतिकताके रहते हुए भी म० बुद्धका जीवन भी ज्ञानोपार्जनके लिए दृढ़तासे प्रयत्न करनेका ही उपदेश देता है! केवल साधन और साध्यके उचित स्वरूपका ध्यान रखना यहां आवश्यक है।

दूसरी ओर भगवान महावीरका जीवन परम उदारताके साथ साथ समयानुसार परिवर्तनके लिये तैयार रहनेकी प्रकट शिक्षा देता है। उनके परम उदार धर्मोपदेशसे सर्व जाति और पांतिके एवं सर्व प्रकारकी सभ्यताके मनुष्य प्रतिबुद्ध होकर परस्पर गले मिले थे। क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, पशु, पक्षी सबहीने भगवा-

नके उदार धर्मोपदेशसे लाभ उठाया था। उनका उपदेश किसी खास सम्प्रदायके लिये नहीं था। खासकर सामान्य जनता (Masses) को लक्ष्यकर उनका उपदेश होता था। यही कारण था कि उनके उपदेशसे मनुष्य अपने आपसी प्रभेदको भूल गये थे। इससे स्पष्ट प्रकट है कि भगवान समयानुसार परिवर्तन-सुधारको आवश्यक समझते थे। उस समय साम्प्रदायिकता बेहद बढ़ी थी, उसका अंत होना लाजमी था। भगवानके दिव्योपदेशसे उसका अन्त होगया। यही नहीं उस समय कठिन ब्रह्मचर्य और तपश्चरणकी भी आवश्यक्ता थी, भगवानने अपने दिव्य जीवनसे इसका आदर्श उपस्थित कर दिया था। आजीवक ब्राह्मण आदि साधुजन जिस समय ब्रह्मचर्यकी आवश्यक्ता नहीं समझ रहे थे, उस समय भगवानको ब्रह्मचर्य और कठिन तपश्चरणका उपदेश अपने चारित्र द्वारा गृहस्थ अवस्थासे प्रकट करना लाजमी ही था। आज भी भारतहितके लिये हमको भगवानके इस आदर्शका अनुकरण करना श्रेयस्कर है।

म० बुद्ध भी सामायिक सुधारके पक्के हामी थे। उन्होंने समयकी परिस्थितिके अनुसार बहुत कुछ सुधार किया था, यह हम देख चुके हैं। उनके उपदेशसे भी लोग अपनी साम्प्रदायिकताको गंवा बैठे थे। इस तरह उनका जीवन भी सामयिक सुधारके लिये हर समय तैयार रहनेका ही उपदेश देता है।

तीसरी मुख्य बात भगवान् महावीरके जीवनकी यह है कि उन्होंने स्त्रियोंका विशेष आदर दिया था। उनके समवशरणमें पुरुषोंके पहिले स्त्रियोंको स्थान प्राप्त था। यद्यपि स्त्रियोंको भी समान धर्माधिकार प्राप्त थे परन्तु उनको स्त्री योनिसे मोक्ष लाभ करनेकी

योग्यता प्राप्त नहीं थी। इसी कारण वे परम निर्ग्रन्थ रूप धारण नहीं कर सक्तीं थीं। उस समय भगवान् महावीरके शासनकी श्राविकायें विशेष ज्ञानवान और विदुषीं थीं। आज भारत हितके नाते प्रत्येक भारतीयको भगवानके इस दिव्य चरित्रसे शिक्षा लेना उत्तम है। भारतीय स्त्रियोंकी दशा जिस समय ज्ञानवान और आदरमय होगी उसी समय हमारे जीवन भी उत्कृष्ट बनेंगे, तब ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुषार्थोंकी सिद्धि होसक्ती है। म० बुद्धने भी गृहस्थ सुखके लिए स्त्रियोंको ज्ञानवान बनाना और उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखना आवश्यक बतलाया था।

अन्ततः भगवान् महावीरका जीवन उन युवकोंके लिये एक अनुकरणीय एवं आदर्श है जो उन्नति करके सत्कीर्तिका मुकुट अपने शीशपर रखना चाहते हैं। उन्हें अपने उद्देश्य प्राप्तिके लिए दृढ़-प्रयत्न होना चाहिये। उद्देश्यमें श्रद्धान जमा लेना आवश्यक है। उद्देश्यहीन जीवन एक दुःखमय जीवन है। फिर इस उद्देश्यको क्रमवार नियमित ढंगसे प्राप्त करना लाजमी है। धीरता और संतोष-पूर्वक कर्तव्यपरायण रहना उसमें आवश्यक है। धीरे २ ही मनुष्य उन्नति कर सक्ता है। वह एकदम उन्नतिकी शिखिरपर नहीं पहुंच सक्ता है। भगवान् महावीरने इसीप्रकार उन्नति करके निर्वाणपदको प्राप्त किया था। इसके विपरीत म० बुद्धने साधुके एक नियमित जीवनक्रमका अभ्यास नहीं किया था, जिसके कारण वे पूर्ण ज्ञानको प्राप्त करनेमें असमर्थ रहे थे। यद्यपि ध्येयमें उनका श्रद्धान भी अटल था किन्तु उसकी आतुरताने उनको उससे वंचित रक्खा। फिर भी उनको साधारण ज्ञानसे कुछ अधिककी प्राप्ति हुई ही थी। अस्तु;

इसप्रकार भगवान् महावीर और म० बुद्धके जीवन हैं और उनसे जो शिक्षायें हमें प्राप्त होती हैं वह भी प्रकट हैं। दोनों ही युगप्रधान पुरुष समकालीन और क्षत्री राजकुमार थे। म० महावीरसे म० बुद्ध प्रायः तीन वर्ष उमरमें बड़े थे। उन्होंने गृहत्याग करके विविध धर्मपन्थोंका अभ्यास किया था और वे एक समय जैन मुनि भी रहे थे। उपरांत मध्यमार्गको प्राप्त करके ३९ वर्षकी अवस्थासे उन्होंने उसका प्रचार करना प्रारम्भ किया था। इस समय भगवान् महावीर एक सामान्य मुनिकी तरह छद्मस्थावस्थामें थे। इस उपदेशमें म० बुद्धने सामयिक परिस्थितिको बहुत कुछ सुधारा था; परन्तु अपने पूर्ण ज्ञानके अभावमें उनका उपदेश सैद्धांतिकतासे रहित था। इसपर भी तपस्याकी कठिनाईके अभाव और म० बुद्धके व्यक्तिगत प्रभावसे उसका प्रचार विशेष हुआ था।

इसप्रकार स्वयं म० बुद्धद्वारा बौद्धधर्मकी सृष्टि हुई थी। उनसे पहले यह धर्म भारतमें नहीं था; क्योंकि यदि यह होता तो म० बुद्ध अन्यत्र कहीं न भटककर अपनेसे पहले हुये बुद्धोंके बताये मार्गका अनुसरण करते। यही कारण है कि बौद्धग्रन्थोंमें बुद्धोंकी संख्या भी ठीकसर एक नहीं बताई गई है। भगवान् महावीरने इसके विपरीत अपने पूर्वगामी तीर्थंकरोंके समान ही एक नियमित साधुजीवनका अभ्यास किया था और अन्ततः सनातन जैनधर्मका पुनरुद्धार किया था, जो देश-विदेशोंमें फैल गया। म० बुद्धका बौद्धधर्म सम्राट् अशोकद्वारा विदेशोंमें-खासकर चीन, जापानमें-विशेष फैलाया गया था किन्तु जैनधर्म इसके पहले ही जैन-मुनियों द्वारा यूनान आदि देशोंमें पहुंच चुका था। चंद्रगुप्त मौर्य

और सम्प्रति मौर्य्य सम्राटोंद्वारा इसका प्रचार अशोकके पहले ही होचुका था। फिर खारवेल, महामेघवाहनने जैनधर्मकी प्रभावना भारतव्यापी किंवा जावा आदि देशोंमें की थी। चीन और जापानमें भी जैनधर्म एक समय अवश्य रहा था, इसका प्रमाण वहांकी एक सम्प्रदायविशेषके अस्तित्वसे होता है; जो अहिंसाको विशेष मानते और रात्रिभोजन नहीं करते हैं। 'जैन बुद्धधर्म' नामक चीनाई धर्मकी सदृशता साधारणतः जैनधर्मसे है। वह भेदविज्ञानको मुख्य मानते हैं। (देखो, दी रिलीजन्स आफ एम्पाइर पृ० १८७)। इसतरह भगवान् महावीरद्वारा पुनः घोषित होकर जैनधर्म बहु प्रचलित होगया था।

भगवान् महावीरने गृहस्थावस्थामें ब्रह्मचर्य पूर्वक श्रावकके व्रतोंका अभ्यास करके करीब ३० वर्षकी अवस्थामें गृहत्यागकर दिगम्बर मुनिके व्रत धारण किये थे। बारह वर्ष तक घोर तपस्या और ध्यान करनेपर उनको करीब ४२ वर्षकी अवस्थामें सर्वज्ञताका लाभ हुआ था। इसी समयसे वे अपना उपदेश देने लगे थे। भगवानकी सर्वज्ञताको म०बुद्धने भी स्वीकार किया था और उसका प्रभाव म० बुद्धके जीवनपर इतना पड़ा था कि उनके जीवनकी तत्कालीन घटनाओंका प्रायः अभाव ही है। अन्ततः भगवान् महावीरने पावापुरसे जब निर्वाण लाभ किया था तब म० बुद्ध जीवित थे। उपरांत म० बुद्ध करीब पांच वर्षतक और उपदेश देते रहे थे। इस समय राजा अजातशत्रुने उनके धर्मको अपनाया भी था। आखिर बौद्धशास्त्र कहते हैं कि कुसीनारमें म० बुद्धका 'परिनिब्बान' घटित हुआ था। संक्षेपमें दोनों युगप्रधान पुरुषोंकी ये जीवन घटनायें हैं। इनमें भगवान् महावीरके दर्शन हम एक साक्षात् परमात्माके रूपमें करते हैं। वे एक अनुपम तीर्थंकर थे। यह प्रकट है। इतिहास !

परिशिष्ट ।

बौद्ध साहित्यमें जैन उल्लेख ।

भारतीय साहित्यमें उपलब्ध बौद्ध साहित्य भी विशेष प्राचीन है। बौद्धधर्मके प्रख्यात् विद्वान् प्रॉ० ह्रीसडेविड्स अन्य विद्वानोंके साथ यह सिद्धकर चुके हैं कि बौद्धोंके पालीग्रन्थोंकी रचना आजसे करीब २२०० वर्ष पहिले होचुकी थी। अशोकके समय अर्थात् ईसवी सन्से पूर्व तीसरी शताब्दिमें इन ग्रन्थोंका अधिकांश भाग प्रायः उसी रूपमें स्थिर होचुका था जैसा उसे हम आज पाते हैं।[1] तथापि मिसिज ह्रिसडेविड्सका कथन है कि यह ग्रन्थ ईसवी-सन्से पूर्व ८० वर्षमें लिपिबद्ध होचुके थे।[2] ऐसी दशामें इन बौद्ध ग्रन्थोंमें जैनधर्मके सम्बन्धमें जो उल्लेख हैं वे विशेष महत्वके हैं; क्योंकि उनके कथन भगवान महावीरके बहुत निकटवर्तीकालके हैं।

हमें बतलाया गया है कि 'बौद्धोंके समस्त धार्मिक ग्रन्थ तीन भागोंमें विभक्त हैं, जो 'त्रिपिटक' कहलाते हैं। इनके नाम क्रमशः 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' और 'अभिधम्म' पिटक हैं। प्रथम पिटकमें बौद्ध मुनियोंके आचार और नियमोंका, दूसरेमें महात्मा बुद्धके निज उपदेशोंका और तीसरेमें विशेषरूपसे बौद्ध सिद्धान्त और दर्शनका वर्णन है। 'सुत्तपिटक' के पांच 'निकाय' व अंग हैं।[3] इनमें अनेक स्थानोंपर जैन धर्मका उल्लेख करके वर्णन किया गया है। इनमेंसे जिनका अध्ययन करनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ

---

१. भगवान महावीर परिशिष्ट पृष्ठ २७५. २. दी साम्स ओफ दी सिसटर्स भूमिका पृष्ठ. १५. ३. भगवान महावीर पृष्ठ २७५.

है और उनमें जैनधर्म सम्बन्धी उल्लेख जो हमें मिले हैं उनको हम विवेचन सहित निम्नप्रकार पाठकोंके समक्ष उपस्थित करते हैं।

'सुत्तपिटक' का द्वितीय अंग 'मज्झिमनिकाय' है। इसमें जो जैन उल्लेख आये हैं, उनमेंसे कतिपय इस प्रकार हैं। एक स्थानपर बुद्ध कहते हैं:–

'एक मिदा हं, महानाम, समयं राजगहे विहरामि गिज्झकूटे पब्बते। तेन खो पन समयेन संबहुला निगण्ठा इसिगिलिपस्से काल सिलायं उब्भत्थका होन्ति आसन पटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदयन्ति। अथ खोहं, महानाम, सायण्ह समयं पटिसल्लाणा वुट्ठितो येन इसिगिलि पस्सम कालसिला येनते निगण्ठा तेन उपसंकमिम्। उपसंकमित्त्वा ते निगण्ठे एतदवोचम्: किन्नु तुम्हे आवुसो निगण्ठा उब्भट्ठका आसन पटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिप्पा कटुका वेदना वेदियथाति। एवं वुत्ते, महानाम, ते निगण्ठा मं एतदवोचुं, **निगण्ठो, आवुसो नाथपुत्तो सब्बञ्जु, सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाण दस्सनं परिजानातिः** चरतो चमे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाण दस्सनं पच्चुपट्ठितंतिः, सो एवं आहः अत्थि खो वो निगण्ठा पूब्बे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय निज्जरेथ; यं पनेत्त्थ एतरहि कायेन संवुता, वाचाय संवुता, मनसा संवुता तं आयतिं पापस्स कम्मस्स अकरणं, इति पुराणानं कम्मानं तपसा व्यन्तिभावा, नवानं कम्मानं अकरणां आयतिं अनवस्सवो, आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदनाक्खयो, वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति तं च पन अम्हाकं

रुच्चति चेव खमति च तेन च आम्हा अत्तमना ति ।'[1]

इसका भावार्थ यह है कि म० बुद्ध कहते हैं: " हे महानाम, मैं एक समय राजगृहमें गृद्धकूट नामक पर्वत पर विहार कर रहा था। उसी समय ऋषिगिरिके पास 'कालशिला' (नामक पर्वत) पर बहुतसे निर्ग्रन्थ (जैनमुनि) आसन छोड़ उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्यामें प्रवृत्त थे। हे महानाम, मैं सायंकालके समय उन निर्ग्रंथोंके पास गया और उनसे बोला, 'अहो निर्ग्रन्थ ! तुम आसन छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी घोर तपस्याकी वेदनाका अनुभव कर रहे हो ? हे महानाम ! जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले-'अहो, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे अशेष ज्ञान और दर्शनके ज्ञाता हैं। हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओंसे सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है:-'निर्ग्रन्थो ! तुमने पूर्व (जन्म)में पापकर्म्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्चर तपस्यासे निर्जरा कर डालो। मन, वचन और कायकी संवृतिसे (नये) पाप नहीं बंधने और तपस्यासे पुराने पापोंका व्यय होजाता है। इस प्रकार नये पापोंके रुक जानेसे आयति (आश्रव) रुक जाती है, आयति रुक जानेसे कर्म्मोंका क्षय होता है, कर्म्मक्षयसे दुक्खक्षय होता है, दुक्खक्षयसे वेदना-क्षय और वेदना-क्षयसे सर्व दुःखोंकी निर्जरा होजाती है।' इसपर बुद्ध कहते हैं:-'यह कथन हमारे लिये रुचिकर प्रतीत होता है और हमारे मनको ठीक जंचता है।'"[2]

---

१ मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भाग १ पृष्ठ ९२-९३.

२ भगवान महावीर पृष्ठ २७६-२७७. (परिशिष्ट ३)

इसमें म० बुद्धने भगवान महावीर (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र)के अस्तित्व और उनकी सर्वज्ञता तथा उनके द्वारा उपदिष्ट कर्म सिद्धान्तको प्रकट किया है। यह ठीक उसी तरह है, जिस तरह जैन ग्रन्थोंमें बताया गया है। ऐसाही प्रसंग 'मज्झिमनिकाय'में एक स्थान पर और आया है।[1] इसका अनुवाद हम मूल पुस्तकमें पहिले यथास्थान लिख चुके हैं। उसमें भी इसी प्रकार भगवान महावीर और उनकी सर्वज्ञता एवं उनके द्वारा प्रतिपादित कर्मसिद्धान्तको स्वीकार किया गया है।[2] जैन धर्मकी मानताओंके यह स्पष्ट और महत्वशाली प्रमाण हैं।

इनके अतिरिक्त 'मज्झिमनिकाय' में एक 'अभयराजकुमार सुत्त' है[3] और इसमें श्रेणिक बिम्बसारके पुत्र अभयकुमारका वर्णन है। यह अभयकुमार वही हैं जिन्होंने भगवान महावीरके समवशरणमें दीक्षा ली थी और जो पहिले बौद्धधर्मावलम्बी थे। जैन शास्त्रोंमें इनका विशद वर्णन मौजूद है, किन्तु बौद्धोंके उक्त सुत्तमें कहा गया है कि जिस समय बुद्ध राजगृहके वेलुवनमें मौजूद थे, उस समय निगन्थ नातपुत्त (भगवान महावीर) ने इनको सिखलाकर म० बुद्धके पास भेजा कि जाकर बुद्धसे पूछो कि तुम किसीसे कठोर या अनुचित शब्द कहते हो या नहीं। यदि वह उत्तरमें हां कहें तो उनसे पूछना कि तुममें और साधारण मनुष्योंमें फिर क्या अन्तर है ? यदि वह इन्कार करें तो कहना कि इन शब्दोंका व्यवहार तुमने कैसे किया:—

---

१ मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भाग २ पृष्ठ २१४–२१८. २ मूल पुस्तक पृष्ठ ८८. ३. P. T. S. भाग १ पृष्ट ३५२ इत्यादि.

'आपायिको देवदत्तो, निरयिको देवदत्तो इत्यादि।'

इससे बुद्धको नीचा देखना पड़े यह भाव था, परन्तु जिस समय अभयकुमार म० बुद्धके निकट पहुंचे तो उन्होंने अभयकुमारका समाधान कर दिया और वे म० बुद्धके अनन्य भक्त होगये। इस कथानकमें कितना तथ्य है यह सहज अनुभवगम्य है। वास्तवमें बौद्ध ग्रंथ साम्प्रदायिकताके पक्षसे अछूते नहीं है और उनकी एक खासयित यह है कि उनमें कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं है जिसमें एक बौद्धानुयायीके विधर्मी होनेका जिकर हो। कमसे कम हमारे देखनेमें ऐसा उल्लेख नहीं आया है। इसके प्रतिकूल विधर्मी जैनादिके बौद्ध होनेका उल्लेख उनमें अनेक स्थानोंपर मिलता

इससे इस ओर बौद्ध शास्त्रोंके कथनको यथातथ्य स्वीकार करना जरा कठिन है। उसके जैनधर्म सम्बन्धी उल्लेखोंका विवेचन करते हुए हम इस व्याख्याका प्रकट स्पष्टीकरण निम्नकी पंक्तियोंमें देखेंगे। इसके अतिरिक्त जैनग्रन्थोंमें हमें बौद्धग्रन्थोंसे प्रतिकूल दर्शन होते हैं। वहां खुले शब्दोंमें एक जैनके विधर्मी होजानेकी घटना स्वीकार की गई है।[1] ऐसी दशामें हम सहसा बौद्धग्रंथोंके उल्लेखोंको बिल्कुल यथार्थ सत्य स्वीकार नहीं कर सक्ते। तिसपर उनमें एक ही कथा अपने एक दूसरे ग्रन्थके विरुद्ध वर्णन भी रखती है। इन्हीं अभयराजकुमारके सम्बन्धमें हमें बौद्धोंके 'तिब्बतीय दुल्व' में बतलाया गया है कि वे वैशालीकी वेश्या आम्रपालीके गर्भ और राजा श्रेणिकके औरससे जन्मे थे।[2] किन्तु यह

---

१. उत्तरपुराण, श्रेणिकचरित्र, आराधना कथाकोष इत्यादि ग्रंथ देखना चाहिए. २. दी क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया पृष्ट १२७-१२८.

कथन उनके पाली ग्रन्थोंके विपरीत है।[1] 'थेरीगाथा' में कहा गया है कि वे उज्जैनीकी वेश्या पद्मावतीके गर्भ और सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारके औरससे जन्मे थे।[2] इस अवस्थामें यहां यथार्थताका पता लगाना कठिन है! प्रत्युत यही प्रतिभाषित होता है कि उपरान्त अभयकुमार जैन मुनि होगये थे, इसीलिए बौद्ध ग्रथोंमें उनको नीचा दिखानेके लिए ऐसा वर्णन लिखा है। इसी तरह कुणिक अजातशत्रु जबतक अपने प्रारंभिक जीवनमें जैनी रहे थे तबतक उनका उल्लेख बौद्ध ग्रंथोंमें 'सर्व दुष्कृत्यका करनेवाला' रूपमें हैं।[3] उपरान्त जब वे बौद्ध होगए तब इस प्रकार उनका उल्लेख नहीं किया गया है। इस परस्थितिमें यह स्पष्ट है कि अभयराजकुमारके सम्बन्धमें उनका उल्लेख यथार्थ नहीं है।

तिसपर उपरोक्त सुत्तमें जो यह कहा गया है कि भगवान् महावीरने उनको सिखलाकर भेजा था, यह जैन शास्त्रोंके प्रतिकूल है। जैन शास्त्र स्पष्ट प्रकट करते हैं कि तीर्थङ्करावस्थामें भगवान् महावीर रागद्वेष रहित थे। उनको न किसीसे राग था और न किसीसे द्वेष। उनका उपदेश अव्याबाध, सर्व हितकारी वस्तुस्थिति-रूपमें होता था! इस कारण यह संभव नहीं कि भगवान् महावीरने म० बुद्धको नीचा दिखानेके लिये अभयकुमारको सिखाकर उनके पास भेजा हो! तिसपर यह भी तो जरा विचारनेकी बात है कि उन्होंने उन खास शब्दोंको कैसे बतलाया होगा जो अशोकके

---

१. पूर्ववत्. २. दी साम्स ऑफ दी सिस्टर्स पृष्ठ ३०. ३. हमारा भगवान महावीर पृष्ठ १३५.

जमानेमें आकर बौद्ध साहित्यके संकलित होनेपर निर्दिष्ट हुये थे ! इस अपेक्षा बौद्धोंका उक्त कथन ठीक नहीं जंचता।

उपरान्त इसी निकायके 'चूल सकुलदायी सुत्त' में भगवान् महावीर द्वारा बताए गये पंचव्रतोंका यथार्थ उल्लेख है। वहां भी इनको अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह बतलाया है तथा इन्हें आत्माकी सुखमय दशाको प्राप्त करनेका कारण जतलाया है। यह चूल सकलोदायी जैन मुनि थे तथापि इसमें अन्यत्र 'उपालीसुत्त' द्वारा अहिंसा सिद्धान्तका प्रभेद प्रकट किया है।[2] उपाली एक जैन श्रावक था। वह म० बुद्धके पास गया था। उसने वहां यह प्रकट किया था कि हिंसा चाहे जानबूझकर की गई हो या बिना जानेबूझे, परन्तु वह पापबंधका कारण अवश्य है। यह जैन दृष्टिसे अहिंसाकी परमोच्च व्याख्या है। बिना जाने भी जो हिंसा होगी उसका पापबंध अवश्य भुगतना पड़ेगा; यद्यपि श्रावकोंके लिये अहिंसाकी मान्यता अन्य प्रकारकी है। वह सिर्फ उसका पालन एकदेशरूपमें करते हैं, केवल जानबूझकर किसीको मारने अथवा पीड़ा पहुंचानेका ही उनके त्याग होता है[3] अन्यथा वे आरम्भी और उद्योगी हिंसाके भागी होते ही हैं। अपनी रक्षाके लिये और धर्म-मर्यादाको स्थिर करनेके लिये वे लड़ाइयां भी लड़ते हैं परन्तु एक मुनि इस अहिंसाका पालन पूर्ण रीतिसे करता है। वह अपने शरीर-पोषणके लिये भी हिंसा नहीं करता है। जो कुछ श्रावकोंने अपने लिये भोजन बनाया होगा उसीमेंसे अल्प मात्रामें

१. मज्झिमनिकाय भाग २ पृष्ठ ३५-३६। २. म० नि० भाग १ पृष्ठ ३७७। ३. रत्नकरण्डश्रावकाचार (मा० ग्रं०) पृष्ठ ४२।

वह शरीररक्षाके निमित्त ग्रहण कर लेता है। तथापि इस अवस्थामें भी अज्ञातावस्थामें जो हिंसा होती है उसके लिए वे मुनिगण प्रतिक्रमणादि करते हैं। आचार्य अमितगति यह भावना इस तरह प्रकट करते हैं:—

'एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः, प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता, तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं
तदा ॥ ८ ॥'

भावार्थ—यत्रतत्र विचरण करते हुए प्रमादवश यदि कोई हिंसा हुई हो या किसी प्राणीको दुःख पहुंचा हो, अथवा उसको अनिष्ट संयोग मिला हो तो उस एक या अधिक इन्द्रियवाले प्राणीको उक्त प्रकार पीड़ा पहुंचानेका यह दुष्कृत्य दूर हो। इस प्रकार जैनसिद्धांतमें अज्ञात अवस्थाकी हिंसा भी पापबंधका कारण मानी गई है और उपाली इसी दृष्टिसे उसका प्रतिपादन म० बुद्धके निकट करता है। किन्तु म० बुद्ध जैन अहिंसाकी इस व्यापकताको स्वीकार नहीं करते हैं, यह हम पहिले ही देख चुके हैं। वह केवल जानबूझकर किसीको मारने या पीड़ा पहुंचानेको ही हिंसा मानते हैं। श्वेताम्बरोंके सूत्रकृताङ्गमें बुद्धकी इस मान्यताका खण्डन किया गया है।[3] वहां एक बौद्ध कहता है कि यदि कोई व्यक्ति धोखेमें किसी प्राणीको मारदे और उसका आहार बौद्ध श्रमणोंको दे तो वे इसे स्वीकार करेंगे क्योंकि उस प्राणीको मारनेके भाव तो उस व्यक्तिके थे ही नहीं! इसलिए इसमें हिंसा भी नहीं समझना चाहिये। तथापि यदि कोई व्यक्ति

१. मूलाचार पृष्ठ १६७-१६८। २. सामायिकपाठ ५। ३. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ पृष्ठ ४१४-४१६.

निर्जीव वस्तुमें एक प्राणीकी कल्पना करके उसका घात करे तो वह हिंसा कही जायगी और वही पापका कारण है। उचित शब्दों द्वारा वहां बौद्धोंकी इस व्याख्याका विरोध किया गया है। सचमुच म० बुद्ध अपने एकान्तमतकी अपेक्षा केवल एक दृष्टिसे ही यहां हिंसाका प्रतिपादन कर रहे हैं। वह मन, वचन, काय द्वारा जो हिंसा होती है, उसको उसी दशामें पापमय समझते हैं, जिस समय वह व्यक्ति जानबूझकर उसको कररहा हो। जैन मान्यता इसके प्रतिकूल है। उसके अनुसार यह एकदेशी अहिंसा है, जैसे कि हम देख चुके हैं। अतएव जैनसिद्धान्तमें मन, वचन, कायिक तीन प्रकारके दन्ड पापबंधके कारण बताये हैं। प्रमादवश कायिक दन्ड जैसे चलते फिरते चींटी आदिका मरना भी पापबंधका कारण है। उपाली इन तीनों दण्डोंका उल्लेख करता है[1] परन्तु बुद्ध इसको स्वीकार नहीं करते। अन्ततः कहा गया है कि उपाली बुद्धके उपदेशसे प्रतिबुद्ध हो गया। इसमें कहांतक तथ्य है, यह हम कह नहीं सके। जैन शास्त्रोंमें उपालीका उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया है तथापि यह स्पष्ट है कि जैनधर्मका अहिंसावाद भगवान महावीरके समयसे ही वैसा है जैसा कि आज उसे हम पारहे हैं।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र जैनियोंकी यह मान्यता बताई गई है कि व्यक्तिको अपना स्वार्थ साधना चाहिये, फिर चाहे माता-पिताकी भी हत्या क्यों न करनी पड़े![2] यह जैन मान्यताके प्रतिकूल है, उसके अनुसार बिल्कुल मिथ्या है। मालूम होता है यहां-

---

१. मज्झिमनिकाय भाग १ पृष्ठ ३७२. २. जातक भाग ५ पृष्ठ १२३ और हिस्टॉरीकलग्लीनिंग्स पृष्ठ ८२.

पर बुद्ध जैनियोंके इस उपदेशको व्यक्त कररहे हैं कि मुमुक्षुको सब बातोंको गौण करके अपना आत्महित सबसे पहिले साधन करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने माता-पिताके प्राणोंतककी परवा न करे। ऐसा यदि वह करेगा तो वह अपने अहिंसाव्रतके विरुद्ध जायगा। इस अवस्थामें बुद्ध जैनियोंपर इस मान्यताके कारण उसी डालको काटनेका लाञ्छन आरोपित नहीं कर सक्ते जो स्वयं उनको छाया देती हो। जैनदृष्टिसे यह पहले दर्जेकी कृतघ्नता है।

तथापि उपालीसुत्तके अन्तमें कहा गया है कि दीघतपस्सीको उपालीके बौद्ध होनेके समाचारों पर विश्वास नहीं हुआ। वह निगन्थ नातपुत्तके पास गया और उपालीके बावत उनसे सब कहा। इसपर वह संघ सहित उपालीके निकट गये और उसे समझाने लगे, पर वह न माना।[1] यह कथन भी कुछ अटपटा है। एक श्रावकके लिये, जो कोई विशेष प्रभावशाली व्यक्ति भी नहीं था, उसके निकट भगवान महावीर गये हों! यह वर्णन जैन मान्यताके विरुद्ध है। तीर्थङ्करावस्थामें वे भगवान प्राकृतरूपमें रागद्वेष और वाञ्छासे रहित होकर उपदेश देते थे। इसलिये उनका वहां जाना केवल जैनियोंकी मान्यताके विपरीत नहीं है, बल्कि प्रकृत अयुक्त है। अतएव बौद्ध ग्रन्थका यह कथन मिथ्या प्रतीत होता है। जैन शास्त्रोंमें ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह प्रकट हो कि भगवान सर्वज्ञावस्थामें किसीके गृहादिको गये हों, प्रत्युत उनका विहार सर्व संघसहित होता था।

---

१. मज्झिमनिकाय भाग १ पृष्ठ ३७१-३८७.

उपरोक्त दीघतपस्सी निर्ग्रन्थ मुनि बताये गये हैं और पहिले इन्हींसे म० बुद्धका वार्तालाप हुआ था और इनके कहनेपर ही उपाली भी बुद्धसे उक्त प्रकार बातचीत करने गया था। दीघतपस्सीके सम्बन्धमें कहा गया है कि "जब नालन्दाके आम्रवनमें म० बुद्ध ठहरे हुये थे उस समय आहारोपरान्त दीघतपस्सी नामक एक निग्रन्थ (मुनि) उनके निकट जाकर उपस्थित हुआ। बुद्धके कहनेपर वह एक नीचे आसनपर बैठा और परस्पर अभिवादन किया। उपरान्त बुद्धने पूछा, 'पापकर्म करनेके कितने द्वार हैं और पाप कितने हैं?" इसके उत्तरमें उन्होंने कहा, 'हमारे निकट पाप नहीं बल्कि डन्ड मुख्य हैं।' तब बुद्धने पुछा, 'तो निर्ग्रन्थ कितने प्रकारके 'डन्ड' बतलाते हैं?' निर्ग्रन्थ (मुनि) ने उत्तर दिया, 'डन्ड तीन प्रकारके हैं। कायडन्ड, वचनडन्ड और मनडन्ड। फिर बुद्धने प्रश्न किया, 'क्या यह तीनों एक दूसरेसे भिन्न हैं?' मुनिने कहा, हां, वे भिन्न हैं।' इसपर बुद्धने पूछा कि 'इन तीनोंमें सबसे अधिक पापपूर्ण कौनसा है?' उत्तरमें कहा गया कि 'निगन्थोंके अनुसार कायडन्ड अधिक पापपूर्ण है।' इसके उपरान्त उन मुनिने बुद्धसे पुछा कि तुम कितने प्रकारका डन्ड बतलाते हो। इसपर बुद्धने उत्तर दिया कि 'मैं डन्डका प्रतिपादन नहीं करता। मैं कम्म (कर्म=Deed) का उपदेश देता हूं।' यह सुनकर निर्ग्रंथ मुनिने कहा कि 'तो तुम कायकम्म, वचिकम्म और मनोकम्म उसी तरह मानते हो जिस तरह हम कायडन्डो, वचिडन्डो और मनोडन्डो मानते हैं। ठीक है, परन्तु इन तीनोंमें अधिक पापपूर्ण किसको स्वीकार करते हो?' बुद्धने कहा कि 'हम मनोकम्मको अधिक पाप-

पूर्ण समझते हैं।" इस तरह पर यह वार्तालाप पूर्ण हुआ।[1] दीघ-तपस्सी अपने स्थानपर लौट आये। इसमें तीन डन्डोंका कथन है वह प्रायः जैनधर्मके अनुसार ही है। जैनधर्ममें भी यह तीनों डन्ड इसी तरह स्वीकार किये हुये आज भी मिलते हैं। केवल क्रमका अन्तर है, बौद्ध कायडण्डको पहिले गिनाते हैं, जबकि मनडन्ड गिनाना चाहिये। उनके इसी मज्झिमनिकायके पूर्व कथनसे यह बात प्रमाणित है। वहांपर भगवान महावीरको मन–कम्म (डन्ड) और काय–कम्म (डन्ड) पर बराबर जोर देते लिखा है।* अस्तु, मज्झिमनिकायमें भगवान् महावीरके विशेषणोंमें यह भी बतलाया है कि वे जानते थे कि किसने किस प्रकारका कर्म किया है और किसने नहीं किया है। (MN. PTS. Vol. II. Pt. II. pp. 224-228.)× इससे भी भगवानकी सर्वज्ञताकी सिद्धि होती है। इन सर्वज्ञ भगवान् द्वारा ही अंग और मगध देशोंमें पहलेसे प्रचलित सिद्धांतवादको नवजीवन प्राप्त हुआ था, यह बात इसी बौद्ध ग्रन्थसे प्रमाणित है। (म० नि० भाग २ पृ० २)।

'मज्झिमनिकाय' में अन्यत्र निगन्थपुत्त सच्चक और बुद्धका कथानक है[2]। कहा गया है कि जिस समय बुद्ध वैशालीमें थे, पांचसौ लिच्छवि कार्यवश सन्थागारमें एकत्रित हुये। इसी स्थानपर निगन्थपुत्त सच्चक पहुंचा और यह लिच्छवियोंसे बोला:–"आज लिच्छवियोंको आना चाहिये; मैं समन गौतमसे वाद करूंगा। यदि

१. पूर्ववत. * पूर्व भाग १ पृ० २३८. × दी समक्षत्री क्लेन्स ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया पृ० ११८। २. मज्झिमनिकाय (P. T. S.) भाग १ पृ० २२५-२२६।

समन (श्रमण) गौतम (बुद्ध) मुझे उसी स्थानको प्राप्त करा देंगे, जिस स्थानपर सावक (श्रावक) अस्सजीने मुझे पहुंचाया है, तो मैं समन गौतमको वाद द्वारा उसी तरह परास्त करूंगा जिस तरह एक बलवान पुरुष बकरीको बालोंसे पकड़ लेता है और उसे जिधर चाहता है उधर घुमाता है।" यही नहीं सच्चकने उन सब उपायोंको भी बतलाया जिनके द्वारा वह बुद्धको परास्त करेगा। कतिपय लिच्छवियोंने इसपर उससे पूछा कि 'समन गौतम निगन्थपुत्त सच्चकके प्रश्नोंका उत्तर किस तरह देंगे अथवा वह किस तरह उनके प्रश्नोंका उत्तर देगा ?' अन्योंने भी इसी तरह सच्चकके विषयमें पूछा। अन्ततः सच्चक अपने साथ पांचसौ लिच्छवियोंको वादमें ले जानेको सफलीभूत हुआ। वह वहां पहुंचा जहां भिक्षुकगण इधर उधर घूम रहे थे और उनसे कहा कि "हम गौतम महात्माके दर्शन करनेके इच्छुक हैं। उस समय बुद्ध महावनमें एक वृक्षके नीचे ध्यान करनेके लिये बैठे थे। निगन्थपुत्त सच्चक बहुतसे लिच्छवियोंके साथ उनके निकट पहुंचा और पारस्परिक अभिवादन करके जरा दूरीसे एक ओर बैठ गया। कतिपय लिच्छवियोंने बुद्धको प्रणाम किया, कतिपयने पारस्परिक मैत्रीवर्धक अभिवादन किये और किन्हींने हाथ जोड़कर नमस्कार किया और वे एक ओर बैठ गए तथापि कतिपय प्रख्यात लिच्छवियोंने अपने और अपने कुलोंके नाम प्रकट करके एक ओर आसन ग्रहण किया, कतिपय बिल्कुल मौन रहे और कुछ फासलेसे बैठ गए। उपरांत बुद्ध और सच्चकके मध्य संघों और गणों तथा बौद्धसिद्धांतके सम्बन्धमें वाद प्रारम्भ हुआ। सच्चक उसमें परास्त हुआ और बुद्धको अपने घर आहार ग्रहण

करनेके लिए निमंत्रित किया। बुद्धने यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया। लिच्छवियोंको भी इस आमंत्रणकी खबर पड़ी और उनसे कहा गया कि जो वस्तु वे देना चाहें खुशीसे ले आयें। प्रातः ही लिच्छवि बुद्धके लिये पांचसौ थालियां भोजनकी लाये। सच्चक और लिच्छवियोंने भक्तिभावसे बुद्धको आहार दिया। इस तरह यह कथानक है। सच्चक एक जैनीका पुत्र है परन्तु वह स्वयं जैन नहीं है यह इसी ग्रन्थके अन्यत्रके एक उल्लेखसे प्रमाणित है।[1] जैन ग्रन्थोंमें इसके विषयमें कोई चर्चा नहीं है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि इस कथानकसे जैनधर्मका अस्तित्व बौद्धधर्मसे पहिलेका प्रमाणित होता है जैसा कि डॉ० जैकोबीने प्रकट किया है।[2] सचमुच जब वह वादी जिसका पिता जैन था, म० बुद्धका समकालीन है, तो यह कदापि सम्भव नहीं है कि जैनधर्मकी स्थापना म० बुद्धके जीवनमें हुई हो, जैसे कि हम अपनी मूल पुस्तकमें भी देख चुके हैं। तथापि सच्चकका यह कथन कुछ तथ्य नहीं रखता कि उसने महावीर-स्वामीको वादमें परास्त किया हो, क्योंकि वह स्वयं म० बुद्धसे वादमें पराजित हुआ है, जिनका ज्ञान भगवान महावीरके ज्ञानसे हेय प्रकारका था।[3] इस दशामें वह भगवानसे वाद करनेका घमंड नहीं कर सक्ता। यहां भी जैन तीर्थंकरके महत्वको हेय प्रकट करनेके लिये बौद्धोंका यह प्रयत्न है।

अन्यत्र मज्झिमनिकायमें म० बुद्ध यह भी मत निर्दिष्ट करते हैं कि सुखसे ही सुखकी प्राप्ति होती है। इसपर वहां जैन मुनि

---

१. पूर्व पृ० २५० । २. जैन सूत्र (S. B. E.) भाग २ भूमिका पृ० २३ । ३. देखो मूल पुस्तक पृ०

इसका विरोध करते हैं, वह कहते हैं, "नहीं गौतम, सुखसे सुखकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु कष्ट सहन करनेसे होती है।" (Nay friend, Gotama, happiness is not to be got at by happiness, but by suffering). * यहां भाव तपश्चरणको मुख्यता देनेका है; जिसको म० बुद्ध स्वीकार नहीं करते। जैन धर्ममें परमसुख प्राप्त करनेके लिए तपश्चरण भी मुख्य माना गया है। यही मत उस समयके मुनिमहाराज प्रकट कररहे हैं, सो ठीक है। तपश्चरण स्वयं सुखरूप है, इसलिए वह सुखमई मार्ग है। बुद्ध उसको कष्टमय समझते हैं यह उनका भ्रम है। अन्ततः मज्झिमनिकायमें जैन उल्लेख 'सामगामसुत' में और देखनेको मिला है और वह इस तरह है:-

"एकम् समयम् भगवा सक्केसु विहरति सामगामे, तेन खो, पन समयेन निग्गन्थो नातपुत्तो पावायम् अधुना कालकत्तो होति। तस्स कालकिरियाय भिन्ननिग्गन्थ द्वेधिकजाता, भन्डनजाता, कलहजाता विवादापन्ना उण्णमण्णम् मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरिन्ता।"[१]

इससे स्पष्ट है कि म० बुद्ध जिस समय सामगामको जारहे थे उस समय उन्होंने निर्ग्रंथ नातपुत्त (भगवान महावीर) का निर्वाण पावामें होते देखा था। उपरान्त कहा गया है कि भगवान महावीरके निर्वाणलाभ करनेके बाद निर्ग्रंथ संघमें मतभेद और कलह खड़े हो गये थे जिसके कारण वे दो विभागोंमें विभाजित हो विहार करने लगे। इससे यह समझना ठीक प्रतीत नहीं होता कि भगवानके निर्वाणलाभके साथ ही यह दशा उपस्थित हो गई थी,

* म० नि० भाग १ पृ० ८३। १. मज्झिमनिकाय भाग २ पृ० १४३।

किन्तु जिस समय राजा अशोकके राज्यकालमें यह बौद्धग्रन्थ संकलित हुये थे उस समय अवश्य ही यह परस्थिति घटित हो गई थी। इस कारण यदि यहां उक्त प्रकार उल्लेख किया गया है तो कुछ बेजा नहीं है। इससे प्रकट है कि जैनसंघमें पूर्ण भेद क्रमशः हुआ था। इस प्रकार मज्झिमनिकायके जैन उल्लेख जो हमारे देखनेमें आए उनका वर्णन है।

अब पाठकगण, आइये बौद्धग्रन्थ 'अङ्गुत्तरनिकाय' में जैन उल्लेखोंका दिग्दर्शन करलें। इसमें एक स्थलपर जैन श्रावकोंकी क्रियायोंका विवेचन किया गया है।[1] उसका अनुवाद इस प्रकार है कि "हे विशाखा! एक ऐसे भी समण हैं जो निगन्थ कहलाते है। वे एक श्रावकसे कहते हैं:–'भाई, यहांसे पूर्व दिशामें एक योजन तक प्राणियोंको पीडा न पहुंचानेका नियम ग्रहण करो। इसी तरह यहांसे पश्चिम, उत्तर, दक्षिणमें एक योजनतक प्राणी हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा लो।' इस प्रकार वे दयाका विधान कतिपय प्राणियोंकी रक्षा करनेमें करते हैं; तथापि इसी अनुरूप वे अदयाकी शिक्षा अन्य जीवोंकी रक्षा न करने देनेके कारण देते हैं।"

यहां बौद्धाचार्य जैनियोंके दिग्व्रतका उल्लेख कर रहा है। इस व्रतके अनुसार एक श्रावक दिशा विदिशाओंमें नियमित स्थानोंके भीतर ही जाने आने और व्यापार करनेका नियम ग्रहण करता है।[2] इसका भाव यह है कि साधारणतया मनुष्योंको कोई रोकटोक कहीं भी आने जानेकी न होनेसे उनके व्यापारादि निमित्त हिंसा

1. अंगुत्तरनिकाय ३-७०-३। २. रत्नकरण्डश्रावकाचार (मा० ग्रं०) पृ० ६०।

करनेकी मर्यादा नहीं होती है किन्तु इस नियमको धारण करनेसे यह मर्यादा उपस्थित होजाती है और फिर वह व्यापार निमित्त भी पहलेसे कम हिंसा करनेका भागी होता है। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि श्रावकको आरंभी हिंसाका त्याग नहीं है। वह केवल जानबूझकर हिंसा नहीं करेगा, क्योंकि वह अहिंसाका पालन एकदेश रूपमें करता है। बौद्धाचार्यने यहांपर जैनाचार्यके भावको गौण करके उल्टा उनपर अदयाकी शिक्षा देनेका मिथ्या लाञ्छन आरोपित किया है। यही बात डॉ० हर्मन जैकोबी इस सम्बन्धमें जैनसूत्रोंकी भूमिकामें प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं:—

' We cannot expect one sect to give a fair and honest exposition of the tenets of their opponents, it is but natural that they should put them in such a form as to make the objections to be raised against them all the better applicable. (Jaina Sutras. S. B. E. Pt. II. Intro. XVIII).

भावार्थ—यह आशा नहीं की जासक्ती है कि एक सम्प्रदाय अपने विपक्षी सम्प्रदायकी मान्यताओंका यथार्थ विवेचन करे। यह स्वाभाविक है कि वे उनको ऐसे विकृतरूपमें रक्खें कि जिससे उनपर अधिकसे अधिक आरोप अगाड़ी लाये जासकें। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थमें जो उक्त प्रकार जैन नियम 'दिग्व्रत' पर लांछन लगाया गया है, वह ठीक नहीं है। तथापि यह दृष्टव्य है कि यह नियम भगवान् महावीरके समयसे अबतक अपने अविकृतरूपमें हमको मिल रहा है।

अगाड़ी उक्त उल्लेखमें कहा गया है कि "उपोषधके दिन वे (निगन्थ) एक सावक (श्रावक)से प्रेरणा करके कहते हैं—'भाई,

तुम अपने सब वस्त्र उतार डालो और कहो, न हम किसीके हैं, और न कोई हमारा है। परन्तु उसके माता पिता उसे अपना पुत्र जानते हैं और वह उन्हें अपने मातापिता जानता है। उसके पुत्र या पत्नी उसे क्रमशः अपना पिता या पति मानते हैं और वह भी उनको अपना पुत्र अथवा पत्नी जानता है। उसके नौकर-चाकर उसे अपना मालिक मानते हैं और वह उन्हें अपने नौकर-चाकर जानता है इसलिये (निगन्थगण) उससे उस समय असत्य भाषण कराते हैं, जब वे उससे उपर्युक्त वाक्य कहलाते हैं। इस कारण मैं उनपर असत्य भाषणका आरोप करता हूं। उस रात्रिके उपरांत वह उन वस्तुओंका उपभोग करता है जो उसे किसीने नहीं दी हैं, इस कारण मैं उसपर उन वस्तुओंको ग्रहण करनेका लांछन लगाता हूं जो उसे नहीं दी गई हैं।"[1]

यहां बौद्धाचार्य जैन श्रावकके प्रोषधोपवासका उल्लेख कर रहे हैं किन्तु इसमें भी उन्होंने उक्त प्रकार चित्र चित्रण किया है। जिस समय श्रावक प्रोषधोपवास कालके लिये उक्त प्रकार प्रतिज्ञा करता है उस समय वह सांसारिक सम्बन्धोंसे बिल्कुल ममत्व हटा लेता है और उसकी वह प्रतिज्ञा उसी नियत कालके लिये थी; इस कारण उसपर असत्य भाषण और अदत्त वस्तुओंको ग्रहण करनेका आरोप युक्तियुक्त नहीं है किन्तु बौद्ध ग्रन्थके उक्त वर्णनसे यह प्रतिभाषित होता है कि प्रोषधके दिन श्रावककी चर्या बिल्कुल मुनिवत होजाती है, उसे सब वस्त्र उतारकर मोहको हटानेवाली उक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करते बताई गई है। परन्तु जैन शास्त्रोंमें

---

१. अंगुत्तरनिकाय ३-७०-३. और जैनसूत्र भाग २ भूमिका।

इस व्रतका वर्णन इस प्रकार मिलता है। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार'में यह इसप्रकार बतलाया गया है:—

'पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥ १६ ॥
पंचानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानांजनस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥ १७ ॥
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥ १८ ॥'

भावार्थ—'पर्वणि (चतुर्दशी) और अष्टमीके दिनोंमें सदेच्छासे जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास समझना चाहिये। उन उपवासके दिनोंमें हिंसादि पंचपापोंका, अलंकार, पुष्पगंध आदि धारण करनेका, वाणिज्य व्यापार आदि व्यवहारके आरंभका तथा गीतनृत्यादि, स्नान, अञ्जनका परित्याग करना चाहिये। इनका परित्याग करके उन दिनोंमें धर्मामृतका पान सतृष्ण हो स्वयं करे एवं धर्मात्माओंको करावे और ज्ञानध्यानमें लीन होकर द्वादशानुप्रेक्षाओंका चिंतवन करे।' इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ज्ञान ध्यानके समय उस श्रावकको क्या प्रतिमायोग धारण करना चाहिये अथवा आचार्यके उपदेशसे मोह दूर करनेवाला वाक्य कहकर नग्नवृत्तिमें कायोत्सर्ग करना चाहिये, जैसे कि उक्त बौद्ध उद्धरणमें कहा गया है। परन्तु सागारधर्मामृतजीमें स्पष्टतः यह कह दिया गया है कि रात्रिके समय वह श्रावक प्रतिमायोग (नग्न होकर) धारण करके कायोत्सर्ग कर सक्ता है। यथा:—

'निशां नयंतः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे ।
ये क्षोभ्यंते न केनापि तान्तु मस्तुर्य भूमिगात ॥ ७ ॥
अ० ७ श्लोक ७ पृष्ठ ४२१ ।

इससे बौद्ध उद्धरणके उक्त कथनका एक तरहसे समर्थन होता है। बौद्ध उद्धरणमें रात्रि और दिनका भेद नहीं किया गया है। संभव है कि समयानुसार इस क्रियामें ढिलाई कर दी गई हो और आज तो इसका उल्लेख भी मुश्किलसे मिलता है। परन्तु उस प्राचीन समयमें इस शिक्षाव्रतके अनुसार नग्न होकर कायोत्सर्ग करना बहुत प्रचलित था। सेठ सुदर्शनके सम्बन्धमें हमें स्पष्ट बतलाया गया है कि उन्होंने नग्न होकर कायोत्सर्ग किया था। यही बात अन्य कथाओंसे भी सिद्ध है। प्रभाचंद्रजी अपनी 'रत्नकरण्ड'की टीकामें ऐसा ही उल्लेख करते मालूम होते हैं; यथाः—'मगधदेशे राजगृह-नगरे जिनदत्तश्रेष्टी कृतोपवासः कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततोऽमितप्रभदेवेनोक्तम्। दूरे तिष्ठंतु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चलयेति...।' अतएव बौद्धोंका उक्त कथन तथ्यपूर्ण है। इसमें कोई संशय नहीं कि ये व्रत श्रावकको त्याग अवस्थाकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे नियत हैं। इसलिए उनमें उक्त प्रकार नग्न होकर कायोत्सर्ग करनेका विधान होना युक्तियुक्त है।

इसी निकायमें अन्यत्र एक सूची उस समयके साधुओंकी दी है और उसमें निगन्थोंकी गणना आजीवकोंके बाद दूसरे नम्बरपर की है; सो इससे भी जैनधर्मकी प्राचीनता स्पष्ट है। यह सूची इस प्रकार है:—

(१) आजीवक, (२) निगन्थ, (३) मुण्ड—सावक, (४)

जटिलक, (५) परिव्राजक, (६) मागन्डिक, (७) तेडन्डिक, (८) अविरुद्धक, (९) गोतमक, (१०) और देवधौमनिक।*

इनमें नं० २ और नं० ३ की व्याख्या करते हुये बुद्धघोषने निगन्थोंको ग्रन्थियोंरहित और नातपुत्तके नेतृत्वका साधु संघ लिखा है तथा यह भी लिखा है कि वे एक लंगोटी धारण करते हैं। इसके साथ ही बुद्धघोषने मुण्ड सावकोंकी गणना भी इन्हींमें की है। यहां बौद्धाचार्य, बुद्धघोष, ऐलक, क्षुल्लक और व्रती श्रावकोंका उल्लेख कर रहे हैं; क्योंकि यदि यहां निगन्थका भाव मुनिसे होता तो उन्हें लंगोटी धारण करनेवाला वह व्यक्त नहीं करते; जब कि वह अपनी अन्य रचनाओं (धम्मपदत्थकथा आदि) में जैन मुनियोंको नग्न प्रकट कर रहे हैं। तिसपर बुद्धघोष प्रायः ईस्वीकी पांचवीं शताब्दिके विद्वान् हैं, सो उनके समय श्वेतांबर भेद भी जैन संघमें होगया था और इस दशामें संभव भी है कि वह श्वेतांबर संप्रदायके वस्त्रधारी मुनियोंका उल्लेख करते होते; परन्तु वह भी ठीक नहीं बैठता, क्योंकि श्वे० साधु केवल लंगोटी धारण नहीं करते और फिर वह साथ ही लंगोटीधारी निगन्थके साथ मुण्ड-सावक--निगन्थका भी उल्लेख कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि वे प्राचीन जैन संघके ऐलक और व्रती श्रावकोंका उल्लेख कर रहे हैं, जैसे कि दिगंबर शास्त्र प्रकट करते हैं। उनका यह वक्तव्य कि 'श्रेष्ठ निगन्थ' (Better Niganthas) जो नग्न रहते थे, वे कहते हैं कि हम अपने कमण्डलको ढक लेते हैं कि कहीं जीवधारी

---

* Dialogues of the Buddha S. B B. Vol. II Intro. to Kassapa-Sihanada. Sutta.

पृथ्वीके कण, उसमें न गिरें,+ यह स्पष्ट कर देता है कि बुद्धघोष उक्त उद्धरणमें जैन मुनि और उत्कृष्ट श्रावक ऐलकका भेद ही प्रगट कर रहे हैं। अस्तु !*

अंगुत्तरनिकायमें अन्यत्र एक दूसरा उल्लेख है; उससे भी भगवानके सर्वज्ञ होनेकी पुष्टि होती है। लिखा है कि " जब आनंद (बुद्धके मुख्य शिष्य) वैशालीमें थे, तब अभय[1] नामक लिच्छवि राजकुमार और पंडितकुमार नामक लिच्छवि आनन्दके पास आये। अभयने आनन्दसे कहा कि 'निर्ग्रन्थ नातपुत्त (भगवान महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। वह ज्ञानके प्रकाशको जानते हैं (अर्थात् केवलज्ञानी हैं)। उन्होंने जाना है कि ध्यानद्वारा पूर्व कर्मोंको नष्ट किया जासक्ता है। कर्मोंके नष्ट होनेसे दुःखका होना बन्द होजाता है। दुःख (Suffering) के बन्द होजानेसे हमारी विषयवासना नष्ट होजाती है और विषयवासनाके क्षय होजानेसे संसारमें दुःखका अन्त होजाता है। "[2]

+ Dhammapadam, Fausboll, P. 398. * यद्यपि 'मुण्डक श्रावक' का अर्थ बुद्धघोषके अनुसार हमने क्षुल्लक–ऐलकसे लिया है; किन्तु डॉ० बी० एम० बारुआ अपनी 'प्री–बुद्धिष्टिक इन्डियन फिलासफी' नामक पुस्तकमें 'मुण्ड–श्रावक' संप्रदायको 'मुण्डक उपनिषद' के परिव्राजक बतलाते हैं। बुद्धघोषने इनका स्वतंत्र उल्लेख किया है, इसलिए इनका स्वाधीन परिव्राजक होना बहुत संभव है। किन्तु इनका कुछ सम्पर्क निगन्थोंसे होगा। इसलिए उसने उनकी गणना निगन्थोंमें की है।

१. यह अभय सम्राट् श्रेणिकके पुत्र अभयकुमारसे भिन्न है, ऐसा डॉ० जैकोबीने प्रकट किया है। (जैनसूत्र भाग २ की भूमिका)

२. P. T. S. Vol. I. pp. 220-221.

इसमें केवल भगवान महावीरजीकी सर्वज्ञताका ही निरूपण नहीं किया गया है, प्रत्युत उनके बताये हुये मार्गका भी दिग्दर्शन कराया गया है; जो प्रायः ठीक ही है। इस निकायमें भी लिच्छवि सेनापति सीहका कथानक दिया है जिसका पूर्ण दिग्दर्शन हम अगाड़ी करेंगे। यहां बौद्धाचार्य भगवान् महावीरको कर्म-फलमें विश्वास करनेवाले क्रियावादी बतलाते हैं। (अ० नि० भाग ४ पृ० १८०)। इसमें भगवान महावीरजीको यह कहते भी बतलाया है कि "वह सर्व लोकको देखते हैं जो उनके परिमित ज्ञानसे सीमित है।" बुद्ध इस मतका खंडन करते हैं।* यहांपर भगवानके ज्ञानमें लोकालोक स्पष्ट दिखता था इस अपेक्षा उनके निकट लोक सीमित रूपमें स्वीकार किया बतलाया गया मालूम पड़ता है। इसी निकायमें अन्यत्र उदासीन निगन्थ (जैन) साधु (उत्कृष्ट श्रावक) एक वस्त्रधारीका भी उल्लेख है। यह इसप्रकार है:-

"लोहिताभिजातिनाम निगन्था एकसाटका तिवदति।"[१]

इसका अर्थ यही है कि रक्त प्रकार (लोहिताभिजाति) के निगन्थ हैं, जो एक वस्त्रधारी नामसे भी विख्यात हैं। दि० जैन शास्त्रोंमें ये एक वस्त्रधारी गृहत्यागी 'क्षुल्लक' नामसे ज्ञात हैं, जैसे कि हम मूल पुस्तकमें देख चुके हैं।[२] 'क्षुल्लक' पदसे ही 'निगन्थ-अचेलक' पद प्राप्त होता है। इसतरह बौद्धग्रन्थका यह कथन भी जैनमान्यताके अनुकूल है। परन्तु इसमें उनको 'लोहिताभिजाति' का किस अपेक्षासे बतलाया है, यह दृष्टव्य है। आजी-

* अंगुतर० भाग ४ पृ० ४२९. १. अंगुत्तरनिकाय भाग ३ पृष्ठ ३८३. २. पृष्ठ.

-वकोंने इस अभिजाति सिद्धांतको प्रकट किया था तथा इसके द्वारा मनुष्य समाजको छै अभिजातोंमें विभक्त किया था।[१] हलिद्द अभिजातिमें आजीवक श्रावकोंको रक्खा था, शुक्लमें आजीवक भिक्षु-भिक्षुणियोंको एवं आजीवक नेताओंको परमशुक्ल अभिजातिका बतलाया था। उपरोक्त उद्धरण इनके उपरांत आया है। अतएव इससे यहांपर भाव आजीविक सिद्धांतके मनुष्य विभागसे है। अंगुत्तरनिकायमें यह अभिजाति सिद्धांत भ्रमवश पूरणकस्सपका बतलाया गया है किन्तु वास्तवमें यह आजीवकोंका है और उन्होंने अपने श्रावकोंको हलिद्द अभिजातिमें रखकर निगन्थों (जैनों) के उत्कृष्ट श्रावकको लोहिताभिजातिमें रक्खा है। सचमुच यदि निगन्थ संप्रदाय उस समय ही स्थापित हुई होती तो उसका उल्लेख इसप्रकार होना कठिन था। इसतरह यह अंगुत्तरनिकायके उल्लेख हैं।

'दीघनिकाय' में भी कतिपय जैन उल्लेख हमारे देखनेमें आये हैं। एक स्थानपर उसमें उस समयके प्रख्यात मतप्रवर्तकोंका वर्णन करते हुये भगवान् महावीरके सम्बंधमें भी राजा अजातशत्रुके मुखसे कहाया गया है कि:—

"अन्नतरो पि खो राजामच्चो राजानाम् मगधम् अजातसत्तुम् वेदेही पुत्तम् एतद अवोचः 'अयम् देव निगन्ठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचार्यो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधु सम्मतो बहुजनस्स रत्तस्मू चिर-पब्बजितो अद्दगतो वयो अनुप्पत्ता।[२]

१. अंगुत्तरनिकाय भाग १ पृष्ट ३८८, २. दीघनिकाय (P. T. S.) भाग १ पृष्ट ४८-४९.

भावार्थ—यह संघके नेता हैं, गणाचार्य हैं, दर्शन विशेषके प्रणेता हैं, विशेष विख्यात् हैं, तीर्थंकर हैं, मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं, बहुत कालसे साधु अवस्थाका पालन कर रहे हैं, और अधिक वय प्राप्त हैं।' यह वर्णन प्रायः ठीक ही है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र इसी निकायमें एक 'पाटिकसुत्त' नामक सुत्तन्तमें जैन विवरण है।[1] उससे प्रकट है कि म० बुद्धके जीवनमें ही भगवान् महावीरका निर्वाण होचुका था।

इसी सुत्तन्तमें एक कन्डर मसुक नामक मुनिका उल्लेख है। इन्होंने जो नियमित दिशाओंमें जानेकी प्रतिज्ञा की थी, उससे प्रतिभाषित होता है कि वह जैन मुनि थे। जैन मुनि ऐसे नियमका पालन करते हैं; यद्यपि बौद्ध कहते हैं कि लिच्छवियोंको खुश करनेके लिये उन्होंने यह प्रतिज्ञा ली थी। मूल इसप्रकार दिया हुआ है।

"एकम इदाहम् भगाव समयम् वेसालियम् विहरामि महावने कूटागार—सालायम्। तेन खो पन समयेन अचेलो कन्डरमसुको वेसालियम् पटिवसति लाभग्ग-प्पत्तोच एव यसग्ग, प्पत्तोच वज्जि गामे। तस्स सत्तवत्त—पदानि समत्तानि समादिन्नानि होन्ति—' यावजीवम् अचेलको अस्सम्, न वत्थम् परिदहेय्यम्ः यावजीवम् ब्रह्मचारी अस्सम् न मेथुनम् पटिसेवेय्यम्ः यावजीवम सुरा-मांसेन एव यापेय्यम्, न ओदन कुम्मासम् भुञ्जेय्यम्ः पुरत्थिमेन वेसालियम् उदेनम् नाम चेतियम् तम् नातिक्कमेय्यम्ः दक्खिणेन वेसालियम् गोतमकम् नाम चेतियम् तम् नातिक्कमेय्यम्ः पच्छिमेन वेसालियम् सतम्बम् नाम चेतियम् तम् नातिक्कमेय्यमः उत्तरेन वेसालियम् बहुपुत्तम् नाम

१. दी० नि० (P. T. S.) भाग ३ पृष्ट १-३५.

चेतियम् तम् नातिक्कमेय्यम् न ति।' सो इमेसम् सत्तनम् वत्त–पदानम् समादान हेतु लाभग्ग प्पत्तो च एव यसग्ग प्पत्तो च वज्जिगामे।" दीघनिकाय (P. T. S.) भाग ३ पृष्ठ ९–१०।

इसमें पहिले अचेलक होकर यावज्जीवम् ब्रह्मचर्य धारण सुरा मांस त्याग आदिकी प्रतिज्ञा की हुई बतलाई गई है। सम्भव है कि पहिले कन्डरमसुक अजैन साधु होगा अथवा भ्रष्ट मुनि होगा। इसलिए उपरांत उसने ऐसी प्रतिज्ञा की! जो हो, इतना स्पष्ट है कि इसमें जो प्रतिज्ञायें की गई हैं वह जैन मुनिकी चर्यामें मिलती हैं। अस्तु; 'दीघनिकाय' के 'पासादिक सुत्तन्त' और 'संगीत सुत्तन्त' में भी जैन उल्लेख हैं। उनसे भी यह स्पष्ट है कि भगवान महावीरका निर्वाण म० बुद्धके जीवनकालमें होगया था। पासादिक सुत्तन्त' में यह इसप्रकार है:—

"एकम् समयम् भगवा सक्केसु विहरति। (वेधञ्ञा नाम सकया, तेसम् अम्बवने पासादे), तेन खोपन समयेन निगन्ठो नाथपुत्तो पावायम् अधुना कालकतो होति। तस्स कालकिरियाय भिन्ना निगन्ठ द्वेधिक जाता, भण्डन जाता, कलह जाता, विवा-दापन्ना अञ्ञमञ्ञम् मुख सत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति 'न त्वं इमं धम्म विनयं आजानासि? अहं इमं धम्म-विनयं आजानामि, किं त्वं इमं धम्म विनयं आजानिस्ससि!' मिच्छा पटिपन्नो त्वं असि, अहं अस्मि सम्मा पटिपन्नो, सहितम् मे, असहितन् ते, पुरे वचनीयं पच्छा अवच, पच्छा वचनीयं पुरे अवच, अविचिण्णन ते विपरावत्तं आरोपितो ते वादो, निग्गहीतो सि चर वादप्पमोक्खाय, निब्बेठेहि वा सचे पहोसीति।' वधो एव खो मंञे निगन्ठेसु नाथपुत्तियेसु वत्तति। ये

पि निगन्ठस्स नाथपुत्तस्स सावका गिही ओदात वसना, ते पि निगन्ठेसु नाथपुत्तियेसु निविण्ण रूपा विरत्त रूपा पटिवान रूपा, यथा तं दुरक्खाते धम्म विनये दुप्पवेदिते अनिय्यानिके अनुपसन संवत्तनिके असम्मा सम्बुद्धप्पवेदिते भिन्न थूपे अप्पटिसरणे।" (P. T. S. Vol. III. P. 117-118).

इसका भाव यही है कि जिस समय म० बुद्ध विहार कर रहे थे उस समय पावामें निगन्थ नातपुत्त (महावीरस्वामी)का निर्वाण होरहा था। इसके बाद निगन्थ संघमें भेद खड़ा हो गया और मुनिगण यह कहते आपसमें झगड़ते विचरने लगे कि 'तुम धर्मका स्वरूप नहीं जानते वह वैसे ठीक है जैसे हम कहते हैं।' इस तरह मुनिजनको आपसमें झगड़ते देखकर श्वेतवस्त्र धारी निर्ग्रंथ श्रावक बड़े खेदखिन्न होरहे थे।

ऐसा ही उल्लेख मज्झिमनिकायमें भी है, जिसका दिग्दर्शन हम पहिले कर चुके हैं। उपरोक्तके अगाड़ी 'संगीत सुत्तन्त' (पृष्ठ २०९–२१०)में भी यही उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि मूलमें जैन संघ एक था। भगवान् महावीरके निर्वाणके उपरांत ही उसमें झगड़ा खड़ा हुआ था। कितने काल उपरांत ? यह इन उद्धरणोंमें स्पष्ट नहीं है; किन्तु केवलज्ञानियों और शायद अंतिम श्रुतकेवली तक जब दि० और श्वे० दोनों ही एकमत हैं तब यह स्पष्ट है कि उस समय तक यह मतभेद अथवा झगड़ा जैनसंघमें खड़ा नहीं हुआ था। श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें ही यह दुःखद घटना घटित हुई थी और वहींसे परस्पर विद्वेषबीज पड़ गया था। यह समय चन्द्रगुप्तके राज्यके अंतिम अथवा किंचित् उपरान्त कालका

है। इस अवस्थामें सम्राट् अशोकके राजत्व कालमें एकत्रित और मार्जित हुये उपरोक्त बौद्धसुत्तोंमें इसप्रकार जैन मुनियों—आचार्योंका परस्पर झगड़नेका उल्लेख होना युक्तियुक्त ही है। उस उद्धरणमें श्वेतवस्त्रधारी जैन श्रावकोंका भी उल्लेख है, जो जैन संघमें व्रती श्रावकके रूपमें होते ही हैं। इस तरह इस उल्लेखका खुलासा है।

इनके अतिरिक्त 'संयुत्तनिकाय' में भी एक विषय उल्लेखनीय है।[1] उसमें एक स्थलपर कहा गया है कि "भगवान महावीरने हिंसा, चोरी, झूंठ, अब्रह्मचर्य और मादक वस्तु सेवनके त्यागका उपदेश दिया है तथा कहा है कि जितने समयतक किसी व्यक्तिने जीव बध किया हो, उस समयसे अधिकतक यदि वह दयाधर्मका अभ्यास करे और उसका समाधिमरण भी उस समयसे अधिक हो तो वह व्यक्ति नर्कमें नहीं जायगा।"[2] इसमें बहुत कुछ अयथार्थ वर्णन किया गया प्रकट होता है। भगवान महावीरने जिन पांच पापोंका त्याग करनेका उपदेश दिया था, उनमें पांचवा मद्यपान त्याग न होकर परिग्रहपरिमाण व्रत था। मद्यपान त्यागका समावेश तो प्रथम व्रत हिंसा—त्यागमें होचुका है।[3] वस्तुतः जिसप्रकार पांच बातोंका त्याग यहां बताया गया है वह स्वयं बौद्धधर्ममें स्वीकृत हैं। तथापि इसके उपरान्त जो समाधिमरण आदिकी बात कही गई है, वह भी ठीक है। इसके अतिरिक्त 'संयुत्तनिकाय' में कहा गया है कि प्रख्यात् ज्ञात्रिक महावीर बतला सक्ते थे कि उनके शिष्य कहां पुनः जन्मे थे और उनमेंसे मुख्य कहां उत्पन्न हुआ था। (S. N.

---

१. संयुत्तनिकाय भाग ४ पृष्ट ३१७. २. हिस्टोरिकल ग्लीनिंग्स पृष्ट ८०. ३. रत्नकरण्ड (मा० ग्रं०) पृष्ट ४३.

P. T. S. IV. 398)। इससे भी भगवानकी सर्वज्ञता प्रमाणित है। उसमें यह भी लिखा है कि ज्ञात्रिक क्षत्री एक भिक्षु, चातुर्याम संवरसे सुरक्षित, देखी और सुनी बातोंको बतानेवाले और जनता द्वारा बहु मान्य थे।* इतनेपर भी इसमें भ० महावीरको म० बुद्धके तुल्य नहीं बतलाने× में पक्षपातसे काम लिया है। अगाड़ी इस निकायमें लिखा है कि जिस समय निगन्थ नातपुत्त महावीर संघसहित मच्छिकाखण्डमें ठहरे हुए थे, उससमय गृहपति चित्तो नामक जमीन्दार उनके निकट आया और उनको नमस्कार की। भगवानने उससे कहा कि 'क्या तुझे विश्वास है कि श्रमण गौतम (बुद्ध) का ध्यान अवितर्क और अविचार श्रेणिका है और उनने वितर्क और विचारको नष्ट कर दिया है?' गृहपति चित्तो बोला कि उसे इसमें विश्वास है; इसी कारण वह बुद्धके पास नहीं गया है। यह सुनकर निगन्थ नातपुत्तने अपने शिष्योंसे कहा कि देखो शिष्यो! गृहपति चित्तो कितना सरल और सलज्ज है।' तब चित्तोने नातपुत्तसे पूछा कि 'श्रद्धा और ज्ञानमें कौन मुख्य हैं?' नातपुत्तने कहा कि 'ज्ञान मुख्य है।' इसपर चित्तो बोला कि 'मुझे चारों ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा है।' यह सुनकर निगन्थ नातपुत्त अपने शिष्योंसे बोले कि 'देखो, चित्तो गृहपति कैसा शठ और मायावी है?' तदुपरान्त चित्तोको महावीरकी शिक्षाका जो महत्त्व था वह मालूम होगया और वह कुछ और प्रश्नोत्तर करके चला गया। (सं० नि० P. T. S. भाग ४ पृ० २८७)।

* दी बुक ओफ दी किन्डर्ड सेयन्स भा० १ पृ० ९९. × सं० नि० P. T. S. भा० १ पृ० ९९.

इसमें यद्यपि भगवान महावीरके प्रति सद्भाव नहीं रक्खे गए हैं; परन्तु इसमें जिन सिद्धांतोंका उल्लेख है वह आज भी जैनधर्ममें मिलते हैं। तत्वार्थाधिगम् सूत्रके ९वें अध्याय श्लो० ४१-४२-४४ में अवितर्क और अविचार श्रेणिके ध्यान और वितर्क एवं वीचार शब्दोंका अर्थ क्रमशः दिया हुआ है। यह पहले दो प्रकारका शुक्लध्यान है। इसतरह जैनधर्मके प्रायः सब ही सिद्धान्त आजतक अपने प्राचीन रूपमें मिलते हैं-यह इसकी सैद्धांतिक पूर्णताका प्रत्यक्षप्रमाण है। अस्तु;

'दीघनिकाय' की टीका 'सुमंगलविलासिनी' में भी कतिपय जैन उल्लेख हमारे देखनेमें आये हैं। उसमें एक स्थानपर जैनियोंकी इस मान्यताका स्पष्ट उल्लेख है कि सचित्त जलमें भी जीव है।[1] उसमें इसका स्थापन इन शब्दोंमें किया गया है:-"सो किर सीतोदके सत्तसञ्जी होति।[2] अर्थात् ठंडे जलमें जीव होते हैं। इसी कारणसे जैन मुनि शीत जलका व्यवहार नहीं करते हैं, क्योंकि वे अहिंसाव्रतका पूर्ण पालन करते हैं। इससे प्रकट है कि जैनियोंकी यह मान्यता बहुत प्राचीन है। उपरान्त इसी बौद्ध ग्रन्थमें अगाड़ी आत्मा सम्बन्धी जैन मान्यताका उल्लेख है। उसमें जैन दृष्टिसे आत्माका स्वरूप (अरूपी अत्ता संण्णी)[3] अरूपी और संज्ञी (उपयोगमई=Concsious) बतलाया है और यह ठीक ही है। जैन ग्रन्थोंमें आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्थामें अरूपी और ज्ञानदर्शन पूर्ण बतलाई गई है।

---

१. हिस्टोरीकल ग्लीनिंग्स पृष्ट ८१. २ सुमंगलाविलासिनी पृष्ठ १६८. ३ सु० वि० पृष्ठ ११८ (P. T. S.)

किन्तु इसमें जो अगाड़ी 'अरोगो' (रोगरहित) बताया है; उसका भाव क्या है यह सहसा समझमें नहीं आया तो आश्चर्य नहीं किन्तु यह उल्लेख आत्माका अस्तित्व मृत्यु उपरान्त रहता है यह निर्दिष्ट करते हुये बतलाया गया है। अतएव इस अवस्थामें यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धाचार्य यहांपर आत्माकी संसार अवस्थाको लक्ष्य करके कह रहा है कि इस दशामें भी वह संसार-परिभ्रमणमें रोग आदिसे अछूता रहता है। वास्तवमें जैनियोंका भी यह विश्वास है कि सांसारिक दुख-सुखमें उनका आत्मा विलग है। उसे न दुःख सताता है न इंद्रियसुख आल्हाद पहुंचाता है, वह अपने स्वभावमें स्वयं पूर्ण सुखरूप है। यही भाव पूज्यपादस्वामी निम्न श्लोकके द्वारा प्रगट करते हैं:-

'न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥'

भावार्थ-'मूलमें जो 'मैं' आत्मा हूं, वह मैं न मृत्युका स्थान हूं, फिर भला मुझे मृत्युसे क्या भय होना चाहिये? तथापि न मेरेमें रोगको स्थान प्राप्त है, इसलिए कोई भी वस्तु मुझे पीड़ा नहीं पहुंचा सक्ती! फिर न मैं बालक हूं, न मैं वृद्ध हूं, न मैं युवक हूं। यह सब बातें तो पुद्गलसे सम्बंध रखतीं हैं! जैनियोंके इसी भावको बौद्धाचार्यने उक्त प्रकार व्यक्त किया है।

अगाड़ी इस 'विलासिनी' में कहा गया है कि 'भगवान महावीरकी मान्यता है कि आत्मा और लोक ('अत्ताचलोकोच') दोनों ही नित्य हैं। यह किसी नवीन पदार्थको जन्म नहीं देते

१ इष्टोपदेश २९.

हैं। वह उसी तरह स्थिर हैं जिस तरह पर्वतकी शिखर अथवा एक स्थम्भ हैं।[1] यह भी आत्मा और लोकके मूल स्वभावको लक्ष्य करके ठीक ही है। जैन दर्शनमें यह इसी तरह स्वीकृत है; जैसे कि हम अन्यत्र पहले मुल पुस्तकमें देख चुके हैं।[2]

अगाड़ी डायोलॉगस ऑफ बुद्धमें जो जैन उल्लेख हमें प्राप्त हुये वे इसप्रकार हैं।[3] पहले ही 'ब्रह्मजालसुत्त'में जहां नित्यवादियों' (Eternalists)का वर्णन है, वह सचमुच जैनियोंके प्रति कहा गया प्रतीत होता है। कहा गया है कि "भिक्षुओ, पहिले ही एक ऐसे ब्राह्मण अथवा समण हैं जो प्रयत्न और तीक्ष्ण विचार आदि द्वारा हृदय आल्हादकी उस अवस्थामें पहुंचते हैं जिसमें वह हृदयमें लीन हो जाकर अपने मन द्वारा पूर्वभवोंका एक, दो, तीन, चार, पांच, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, हजार, बल्कि लाख पूर्वभवोंका स्मरण करते हैं। उस स्मरणमें जानते हैं कि 'तब मेरा यह नाम था....और मैं इतने वर्ष जीवित रहा था। वहांसे मृत्यु होनेपर मेरा जन्म यहां हुआ है।' इस तरह वह पूर्वस्मरण अपने पहलेके घर आदिके रूपमें कर लेता है और फिर वह विचारता है कि "जीव नित्य है; लोक किसी नवीन पदार्थको जन्म नहीं देता है। वह पर्वतकी भांति स्थिर है स्थम्भकी तरह नियत हैं और यद्यपि यह जीवित प्राणी संसारमें परिभ्रमण करते हैं और मरणको प्राप्त होते हैं, एक भवका अन्त करके दूसरेमें जन्मते हैं, तो भी वे हमेशाके हमेशा वैसे ही रहते हैं। इत्यादि।"

---

१ सु० पि० (P. T. S.) पृष्ठ ११५. २ पृष्ठ. ३. Dialogues of the Buddha. S. B. B. Series.

यहां बौद्धाचार्यने स्पष्ट रीतिसे उस धर्मका नामोल्लेख नहीं किया है जिसके सम्बंधमें वह यह वर्णन कर रहा है, किन्तु जो वर्णन उन्होंने जीव और लोककी नित्यतामें दिया है, वह ठीक जैनधर्मके अनुसार है। अपनी मूल पुस्तकमें हम पहिले ही जैनियोंकी इस मान्यताका दिग्दर्शन कर चुके हैं।[1] जैन पुराणोंमें इसी तरहसे पूर्वभव स्मरण और जातिस्मरणके उल्लेख हमको मिलते हैं। तथापि विशेष ज्ञानधारी मुनिजन व्यक्तियोंके पूर्वभवोंका वर्णन करने मिलते हैं। इसके लिए जैनियोंके 'महापुराण' 'उत्तरपुराण' आदि ग्रंथ देखना चाहिये। उक्त विवरणमें बौद्धाचार्यने अगाड़ी जैनियोंकी इस मान्यताको निस्सार बतलाया है; किन्तु उस समय वह उनकी 'निश्चय' और 'व्यवहार' नयोंको भूल गया। 'निश्चयनय'की अपेक्षा जीव और लोक नित्य हैं, परन्तु 'व्यवहारनय'की दृष्टिसे वे दोनों अनित्य भी हैं। इस कारण जैनियोंका यह सिद्धान्त बाधित भी नहीं है। फिर यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि यहां म० बुद्ध उन मतमतांतरोंके सिद्धांतोंकी आलोचना कररहे हैं, जो उनसे पहिलेके चले आरहे थे। इस अपेक्षा उक्त प्रकार जैन सिद्धांतका उल्लेख इस आलोचनामें होना जैनधर्मकी प्राचीनताका द्योतक है। इससे यह भी स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथके तीर्थमें भी यह सिद्धांत उसी रूपमें प्रचलित था जैसे कि आज जैन शास्त्रोंमें मिलता है। तथापि इसके साथ ही जैन शास्त्रोंकि वर्णनकी सत्यता और आर्षता प्रकट है।

इस सुत्तकी चौथी आलोचना तक इस ही सिद्धांतका प्रति-

---

१. मूल पुस्तक पृष्ठ.

पादन किया गया है और बतलाया गया है कि तर्कवादसे वे श्रमण और ब्राह्मण इस सिद्धान्तको सिद्ध करते हैं। सो यह सब कथन भगवान पार्श्वनाथके तीर्थके मुनियोंसे लागू है। इस तीर्थके कतिपय मुनिगण प्रथम उल्लेखकी तरह आत्मवादकी सिद्धि करते प्रतीत होते हैं और चौथेमें जो तर्कवादसे इस सिद्धांतको प्रमाणित करनेवाले मुनि बतलाये गये हैं, उनसे भाव 'वादानुपुर्वी' मुनियोंसे होना प्रतीत होता है। जैन शास्त्रोंमें अलग२ प्रकारके मुनियोंका अस्तित्व प्रत्येक तीर्थंकरके संघमें बतलाया गया है। भगवान पार्श्वनाथजीके संघमें इनकी संख्या इस तरह बतलाई है:—

"प्रथम स्वयम्भू प्रमुख प्रधान। दस गनधर सर्वागम जान ॥
पूरवधारी परम उदास। सर्व तीनसै अरु पंचास ॥२८३॥
सिष्य मुनीसुर कहे पुरान। दसहजार नौसे परवान ॥
अवधिवंत चौदहसै सार। केवलग्यानी एकहजार ॥२८४॥
विविध विक्रिया रिद्धि वलिष्ट। एकसहस जानो उत्कृष्ट ॥
मनपर जय ग्यानी गुनवंत। सात सतक पंचास महंत ॥२८५॥
छसै वादविजयी मुनिराज। सब मुनि सोलहसहस समाज ॥
सहस छबीस अर्जिका गनी। एकलाख श्रावक व्रतधनी। २८६।"

इनमेंके अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनिराज पूर्वभवोंका दिग्दर्शन स्वयं कर सक्ते हैं। और दूसरोंको बतला सक्ते हैं। इनके उपदेशसे भव्योंको श्रद्धान होना लाजमी ही है। वादानुपूर्वी मुनिजन वादद्वारा अपने पक्षकी सिद्धि अर्थात् उक्त जैन सिद्धान्तकी प्रमाणिकता स्थापित करते थे। इन्हीं मुनियोंका

१. पार्श्वपुराण पृष्ठ १००.

अलग २ उल्लेख उपरोक्त बौद्ध सुत्तमें किया गया है। भगवान महावीरके संघमें भी ऐसे ही मुनिजन थे। उनकी संख्या इसप्रकार थी। ९९०० साधारण मुनि; ३०० अंगपूर्वधारी मुनि; १३०० अवधिज्ञानधारी मुनि; ९०० ऋद्धिविक्रियायुक्त; ५०० चार ज्ञानके धारी; १००० केवलज्ञानी: ९०० अनुत्तरवादी, सब मिलकर १४००० मुनि थे।[1] इसप्रकार उक्त बौद्ध उद्धरणसे जैन शास्त्रोंकी प्रमाणिकता और उसकी प्राचीनता प्रकट है।

उपरान्त इस ब्रह्मजालसुत्तमें संजयवैरत्थीपुत्तके विकृत स्याद्वाद सिद्धांतका विवेचन है, जिसके विषयमें हम पहिले मूल पुस्तकमें ही विचार प्रकटकर चुके हैं। इसके पश्चात् 'समञ्ञफलसुत्त' है।

इसमें मुनि अवस्थाके लाभका दिग्दर्शन कराया गया है। मगध सम्राट् अजातशत्रु साधारण आजीविकोपार्जनके उपायोंका लाभ बतलाकर पूंछते हैं कि घर छोड़कर साधुभेष धारण करनेसे फायदा क्या है? इसके उत्तरमें साधु अवस्थाके लाभोंको गिनाया गया है। इसीमें अजातशत्रु उन उत्तरोंको भी बतलाता है जो उसके प्रश्नके जवाबमें अन्य मतप्रवर्तकोंने दिये थे। भगवान महावीरके सम्बन्धमें कहा गया है कि जब अजातशत्रुने साधु जीवनके लाभके बारेमें उनसे पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि "हे राजन्! एक निगन्थ चार प्रकारसे संवरित हैं। वह सर्व प्रकारके जलसे विलग रहकर जीवन व्यतीत करते हैं; सब पापसे दूर रहते हैं; सब पापको उनने धो डाला है और वह पाप-वासनाको रोककर पूर्ण हुये जीवन व्यतीत करते हैं। इस तरहका यह चतुर्यामसंवर है

१. हमारा 'भगवान महावीर' पृष्ठ ११८.

और जब वह इस चतुर्यामसंवरसे युक्त है, तब इसीलिये वह निगन्थो, गतत्तो, यतत्तो और थितत्तो कहलाते हैं।"[1]

ठीक इस ही प्रकारके उल्लेख दीघनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय और मिलिन्दपन्हमें भी आये हैं। यहां निर्ग्रन्थ (जैनमुनि) के साधु जीवनका महत्व प्रदर्शित किया गया है। इसपर प्राच्यविद्याविशारदोंमें विशेष मतभेद प्रचलित है। कोई इसका भाव कुछ लगाते हैं और कोई कुछ। सचमुच विधर्मी विद्वानोंके लिए यह सुगम नहीं है कि वह किसी धर्मकी मान्यताको सहज समझ सकें तो भी उनके उद्योग सराहनीय हैं। इसमें संशय नहीं कि बौद्धग्रन्थमें जो इस तरह क्लिष्ट और अस्पष्ट रूपमें इस उत्तरको अंकित किया गया है, वह भगवान महावीरकी दिव्यध्वनिके प्रति उपहास भावको प्रकट करता है। डॉ० र्हिस डेविड्स भी यही समझते हैं और वे इस विषयमें अन्य पाश्चात्य विद्वानोंके भावार्थोंपर विवेचन करते हुए लिखते हैं:—

---

१ मूल इस प्रकार है:-'एवम् वुत्त भन्ते निगन्ठो नातपुत्तो मम् एतद् अवोच: इध महाराज निगन्ठो चातु-याम-संवर-संवुतो होति। कथं च महाराज निगन्ठो चातु-याम-संवर-संवुतो होति? इध महाराज निगन्ठो सब्ब-वारी-वारितो च होति, सब्ब-वारी-युतो च सब्ब-वारी-धुतो च, सब्ब-वारी-फुठो च। एवम् खो महाराज निगन्ठो चातु-याम-संवर-संवुतो होति। यतो खो महाराज निगन्ठो एवम् चातु-याम-संवर-संवुतो होति, अयम् वुच्चति महाराज निगन्ठो गतत्तो च यतत्तो च थितत्तो चाति।' इत्थम् खो मे भन्ते निगन्ठो नातपुत्तो सन्दिट्ठिकम् सामञ्ञफलम् पुट्ठो समानो चातु-याम-संवरम् व्याकासि।...' -दीघनिकाय (P. T. S.) भाग १ पृ० ५७-५८।

'इस कठिन उद्धरणमें गोरख धन्धेकेसे पेच नजर पड़ रहे हैं वह संभवतः निगन्थ (भगवान महावीर) के उपदेशक्रमकी नकल उपहासरूपमें प्रकट करनेके प्रयत्न हैं। जॉजरलीसाहबने इसके साधारण भावको ग्रहण अवश्य किया है, परन्तु उनका अनुवाद बहुत स्वतंत्र है और दो शब्दोंके सम्बन्धमें अयथार्थ है और उससे भाषाकी उस विचित्रताका दिग्दर्शन नहीं होता जैसा वह मूलमें है। बॉरनफ साहबने जो इसका भाव प्रकट किया है वह बिल्कुल विषयान्तर है। इस 'चतुर्यामसंवर' में पहिला तो जैनियोंका विशेष प्रख्यात नियम जलको ग्रहण न करना है जिसमें वे जीव खयाल करते हैं। (मिलिन्द २,८९–९१). प्रॉ० जैकोबी साहबने (जैनसूत्र २ भूमिका २२) इनको भगवान पार्श्वनाथके चार व्रत खयाल किये हैं परन्तु यह कभी भी नहीं होसक्त क्योंकि यह उपरोक्तसे बिल्कुल भिन्न हैं।"

इस तरह इस कथनसे यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान् अभीतक बौद्धशास्त्रके इस जैन उल्लेखका एक स्पष्ट भाव नहीं बतला सके हैं अतएव आइये पाठकगण हम इस उलझी गुत्थीको सुलझानेका किञ्चित् प्रयास कर लें। जैन शास्त्रोंपर दृष्टि डालनेसे हमें श्रीमद्भगवत्समन्तभद्राचार्यके प्रख्यात् ग्रंथ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में एक जैनमुनिका स्वरूप इस तरह बतलाया हुआ मिलता है (अथेदानीं श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह)–[1]

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥"

---

1 मा० ग्रं० पृष्ठ ८.

इसमें तपस्वी अथवा मुनि वह बतलाया गया है जो विषयोंकी आशा और आकांक्षासे रहित हो, (विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकांक्षा तस्या वशमधीनता, तदतीतो विषयाकांक्षा रहितः ।); निरारम्भ हो, (परित्यक्तकृष्यादि व्यापारः ।); अपरिग्रही हो, (बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः ।) ; और ज्ञानध्यानमय तपको धारण करे हुये तपोरत्न ही हो, (ज्ञानध्यानतपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्-गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाध्यते) । यहां भी निर्ग्रन्थ मुनिके चार ही विशेषण बतलाये गये हैं । अब इनकी तुलना जरा उपरोक्त बौद्ध उद्धरणसे करके देखें कि वस्तुतः क्या इन्हींका उल्लेख इसमें किया गया है ? बौद्ध उद्धरणमें पहिले कहा गया है कि एक निर्ग्रन्थ मुनि सब प्रकारके जलसे विलग रहता है । इसका भाव यही है कि वह आरंभी आदि सब प्रकारकी हिंसासे दूर रहता है । जैन मुनि अपने निमित्त जल भी स्वयं ग्रहण नहीं करते; जिस समय वे आहारके निमित्त श्रावकके यहां पहुंचते हैं, उस समय श्रावक स्वयं ही उनके कमण्डलुको प्रासुक जलसे भर देता है । इसलिए यहांपर बौद्धग्रन्थ उनकी निरारम्भ अवस्थाको व्यक्त करता है, जैसा कि उपरोक्त जैन श्लोकमें भी स्वीकार किया गया है। केवल अन्तर इतना है कि बौद्धग्रन्थमें इसको पहले गिना गया है और जैन श्लोकमें दूसरे नम्बरपर; परन्तु इस क्रम अन्तरसे मूल भावमें कोई अन्तर उपस्थित नहीं होता। उपरांत बौद्ध उद्धरणमें बतलाया है कि वे 'सब पापसे दूर रहते हैं' । यह ठीक ही है । उक्त श्लोकमें पहिले ही उनको 'विषयाशावशातीतो' बता दिया है । विषय-वासनायें ही पाप हैं और वह उनसे रहित

हैं ही। इस तरह यह दूसरा विशेषण भी दोनों स्थानोंपर एक समान मिलता है। तीसरा विशेषण बौद्धशास्त्रमें बतलाया है कि सब पापको उनने धो डाला है' इसका भाव आभ्यन्तर परिग्रहसे भी वे रहित हैं, यही है। जैनमुनि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंसे रहित होते हैं। आभ्यन्तरपरिग्रह भी जिनके नहीं है, उनके पापका अभाव ही होगा, पाप उनके निकट छू भी नहीं सक्ता। यही बात उपरोक्त जैन श्लोकमें 'अपरिग्रही' विशेषणसे जाहिर कीगई है। चौथा और अन्तिम विशेषण बौद्धग्रन्थमें "पापवासनाको रोककर पूर्ण हुये जीवन व्यतीत करना" बतलाया है। जीवनको ज्ञान, ध्यान, तपश्चरणमें लगानेसे ही मुनि अपने पूर्णपनेको प्राप्त होता है। शांत ज्ञान-ध्यानमय अवस्थामें पापाश्रवका होना असंभव है। वहां संवर ही संभाव्य है। इसतरह चौथा विशेषण भी दोनों स्थलोंपर एकसा ही है। अतएव बौद्धग्रंथके उक्त उल्लेखका भाव वही है जो उक्त दि० जैन श्लोकमें बतलाया गया है। इस-प्रकार इनका भाव श्वे०की मान्यताके अनुसार भगवान पार्श्वनाथके चार व्रत नहीं हो सकते। श्वेताम्बरोंके इस कथनकी पुष्टि उपरोक्त बौद्ध उद्धरणसे होती बतलाई जाती है; परन्तु अब हम देखते हैं कि यह मिथ्या है और श्वेताम्बरोंके इस कथनका कोई आधार शेष नहीं है।

अब रही बात उक्त उद्धरणमें व्यवहृत 'गतत्तो', 'यतत्तो' और 'थितत्तो' शब्दोंकी सो बौद्धाचार्य 'सुमंगलविलासिनी' नामक टीकामें इनका भाव निम्नप्रकार स्पष्ट करते हैं:-[1]

---

१ हिस्टोरीकल ग्लीनिंग्स पृष्ठ ८१।

'गतत्तो—जिसका मन अन्तको पहुंच गया है अर्थात् जिसने अपने उद्देश्यको पा लिया है।

यतत्तो—जिसका मन संयमित है।

थितत्तो—जिसका मन खूब थिर होगया है।'

अतएव इन भावोंको व्यक्त करनेवाले ये विशेषणोंका जैन मुनियोंकी प्रख्यातिके लिये उस समय प्रचलित होना बिल्कुल संभव है; किन्तु यह अवश्य है कि उपलब्ध जैन साहित्यमें हमें इनका व्यवहार कहीं नजर नहीं पड़ा है। शायद प्रयत्नशील होकर खोज करनेपर अगाध जैनसाहित्यमें इनका पता चल जावे! इतनेपर भी यह स्पष्ट है कि जो भाव इन शब्दोंका बतलाया गया है उसीके अनुसार जैनशास्त्रोंमें जैनमुनियोंका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। देखिये ईसाकी प्रथम शताब्दिके विद्वान् कुन्दकुन्दाचार्य इस विषयमें निरूपण करते हैं:—

"जधजादरूवजादं उप्पाडिद केसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवादि लिंगं॥ ५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोग जोग सुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भव कारणं जो एहं॥ ६॥

प्रवचनसार"

भावार्थ—'मुनिलिंग नग्न, सिर व डाढ़ी केशरहित, शुद्ध, हिंसादि रहित, शृंगार रहित, ममता आरम्भ रहित, उपयोग व योगकी शुद्धि सहित, परद्रव्यकी अपेक्षा रहित, मोक्षका कारण होता है।' तथापि और भी कहा है:—

'इहलोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मिलोयम्मि।

जुत्ताहारविहारो रहित कसाओ हवे समणो ॥ ४२ ॥'

भावार्थ-'इसलोक परलोककी इच्छारहित, कषायरहित व योग्य आहारविहार सहित साधु होता है।' श्री पूज्यपादस्वामीजी भी अपने 'इष्टोपदेश' ग्रन्थमें निम्न श्लोकोंद्वारा मुनिके उक्त विशेषणोंका प्रायः समर्थन करते हैं:—

'अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥'

भावार्थ-'जिसके मनमें किसी प्रकारका विक्षेप उत्पन्न नहीं होता अर्थात् जिसका मन थिर है और जो आत्मध्यानमें स्थिर होचुका है, ऐसे ही साधुको एकान्त स्थानमें बैठकर अपनी आत्माका अविरल ध्यान करना चाहिये।' अगाड़ी और बतलाया है कि—

"ब्रुवन्नापि न हि ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥
किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्य विशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥"

भावार्थ-'जो अपनी आत्माके ज्ञानमें खूब स्थिर है, ऐसा ही योगी बोलने भी नहीं बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है और देखते हुए भी नहीं देखता है। ऐसा योगी जो अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें संलग्न है वह अपने शरीर तकके अस्तित्वसे विज्ञ नहीं रहता है। वह आत्मा क्या है? उसका स्वभाव क्या है? उसका स्वामी कौन है? इत्यादि प्रश्नोंसे अछूता बना शांत रहता है।' इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि जिन विशेषणोंका व्यवहार बौद्ध पुस्तकमें किया गया है वह जैन शास्त्रोंके अनुसार

भी ठीक है। इसप्रकार उक्त बौद्ध उद्धरणका अभिप्राय स्पष्ट होजाता है

उपरान्त 'महालीसुत्त' में बौद्धधर्मके दस 'अव्यक्तनी' बातोंका विवरण है अर्थात् उन सिद्धान्तोंका जिनपर बुद्धने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया है। इन अव्यक्त बातोंमें एक यह भी है कि 'आत्मा वही है जो शरीर है अथवा भिन्न है ?' यह प्रश्न मनदिस्स परिव्राजक (Wanderer) और दारुपात्तिक (काष्ट कमण्डल सहित मनुष्य) के शिष्य जालियने उपस्थित किये थे। यह जालिय और उनके गुरु हमें जैनमुनि प्रतिभाषित होते हैं; क्योंकि जैन मुनियोंके पास सदैव काष्ठका कमण्डलु और पीछी होती है। तथा यह प्रश्न भी जैन सिद्धान्तकी अपेक्षा महत्वका है। इसके श्रद्धान पर ही आत्मोन्नति निर्भर है। जैनसिद्धान्तमें यह 'भेदविज्ञान' के नामसे विख्यात है। इसलिये जालिय और उनके गुरुका जैनमुनि होना स्पष्ट है।

फिर 'कस्सपसीहनाद' सुत्तमें जो जैन मुनियोंकी क्रियाओंका उल्लेख है, सो उसका विवेचन हम मूल पुस्तकमें पहले और अन्यत्र कर चुके हैं इसलिये यहां उसको दुहराना ठीक नहीं है। इसके बाद 'पोत्थपाद' सुत्त है। इसमें समण 'पोत्थपाद'

---

१. दीघनिकाय (P. T. .S.) भाग १ पृष्ठ १५९. मूल इस प्रकार है:-"एकम् समयम् भगवा कोसाम्बीयम् विहरति घोसितारामे। अथ खो द्वे पब्बजिता मन्डिस्सो च परिब्बाजको जालियो च दारुपत्तिक-अन्तेवासी येन भगवातेन उपसंक्कमित्वा भगवता सद्धिम् सम्मोदिंसु, सम्मोदनीयम् कथम् सारणीयम् वीति सारेत्वा एकमन्तम् अट्ठंसु। एकमन्तम् थिता खो ते द्वे पब्बजिता भगवन्तम् एवद् अवोचुम्: 'किन् नु खो आवुसो गोतम तम् जीवम् तम् सरीरम् उदाहु अन्नम् जीवम् अन्नम् सरीरन्ति ?'

म० बुद्धसे कहता है कि "महाराज, एक दीर्घकाल पहिले जब श्रमण और ब्राह्मण एवं अन्य आचार्य, एकत्रित होकर परस्पर मिलते थे, तब एकवार ये सन्थागारमें बैठे थे कि विषय ध्यानका छिड़ गया और अन्ततः यह प्रश्न अगाड़ी आया; 'फिर महाशयो, उपयोग अथवा संज्ञा (Consciousness) का अन्त किसतरह हो जाता है ?' इसके उत्तरमें पोत्थपाद वे सब विवरण पेश करता है जिनको विविधमतप्रवर्तकोंने बतलाया था। उनमें एक इसप्रकार है-

"इसपर एक अन्यने कहा कि यह ऐसे नहीं होसक्ता जैसे कि आप कहते हैं। उपयोग अथवा संज्ञा, महाशयो! मनुष्यकी आत्मा है। यह आत्मा ही है जो आती और जाती है। जब एक मनुष्यमें आत्मा आजाती है तब वह उपयोग-संज्ञामय होजाता है और जब वह चली जाती है तब वह उपयोग अथवा संज्ञारहित हो जाता है।" इसतरह एक अन्यलोग उपयोगकी व्याख्या करते हैं।' *

अब यह हमको मालूम ही है कि जैनसिद्धान्तके अनुसार आत्मा उपयोगमई पदार्थ है और उसीके आने जानेपर मनुष्यका पौद्गलिक शरीर संज्ञा या चेतनामय और संज्ञा या चेतना रहित होता है। इस अवस्थामें यहां बहुत कम स्थान संशयको रह जाता है कि जिस व्यक्तिने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था वह जैन ही था और यह बाद म० बुद्धसे एक दीर्घकाल पहिले हुआ था, इसलिए इससे भी जैनधर्मका अस्तित्व म० बुद्धसे बहुत पहलेका प्रमाणित होता है।

एक अन्य सुत्तन्तमें कहा गया है कि निगन्थ नातपुत्त

* दीघनिकाय (P. T. S.) भाग १ पृ० १७९।

(भगवान महावीर) के अनुसार निगन्थके भाव ग्रन्थियोंसे मुक्तके हैं।[1] सो ठीक ही है; बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे रहित मुनि होते ही हैं। वे ही निर्ग्रन्थ (निगन्थ) कहलाते हैं। अन्यत्र कहा गया है कि वे अन्योंकी अपेक्षा तपश्चरणमें सरलता रखते थे।[2] सचमुच पंचाग्नितपना, उल्टे लटकना इत्यादि कायदण्डरूपके तपको जैन हेय दृष्टिसे देखते हैं और उसको 'बालतप' अथवा 'मिथ्यातप' ठहराते हैं, यह हम पहिले ही देख चुके हैं। इसलिए बौद्धोंका यह कथन ठीक ही है। अस्तुः-

अब पाठकगण! आइये, बौद्धोंके 'विनयपिटकपर भी एक दृष्टि डाल लें। विनयपिटकमें प्रख्यात् 'महावग्ग' ग्रन्थ है। इसमें एक कथानक भगवान महावीरके सम्बन्धमें है। उससे जैनधर्मकी व्यापकता उस समय जो थी वह प्रकट है। यह बात आधुनिक विद्वानोंको भी मान्य है कि भगवान् महावीरके सर्वज्ञ होनेपर सर्व प्राणियोंको हितकर उनका धर्मोपदेश पूर्णरीतिसे वज्जिदेश और मगधमें व्याप्त होगया[3] था। लिच्छवियोंमें उनके उपासक अधिक संख्यामें थे और उनमें ऐसे भी प्रभावशाली मनुष्य थे जो वैशालीमें उच्च और प्रतिष्ठित पदोंपर नियुक्त थे। यह बात स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंके विवरणोंसे ही प्रमाणित है। अस्तु; उक्त महावग्गमें एक स्थलपर कहा गया है[4] कि सीह (सिंह) नामक लिच्छवियोंका सेनापति भी निगन्थ नातपुत्त (भगवान महावीर)का शिष्य था। सन्थागारमें समण गौतमकी प्रशंसा लिच्छवियोंमें होते सुनकर इस

१. Dialogues of Buddha, Vol, 11, pp. 74 75.
२. पूर्व पृष्ट २२१. ३. हिस्टॉरीकल ग्लीनिन्ग्स पृष्ठ ८३. ४, महावग्ग (S. B. E. Vol. XVII.) पृष्ठ ११५.

सेनापति सीहका हृदय बुद्धकी ओर आकर्षित हुआ था। एक रोज विशेष प्रख्यात् लिच्छवि एकत्रित हुये सन्थागारमें बैठे थे कि वे आपसमें बुद्ध, उनके धर्म और संघकी प्रशंसा विविध रीतिसे करने लगे। उस समय सीह भी उस सभामें बैठा हुआ था। यह सब सुनकर वह सोचने लगा कि 'सचमुच गौतम समण अवश्य ही अर्हत् बुद्ध होंगे, तब ही तो यहांपर यह एकत्रित हुये इतने लिच्छवि उनकी, उनके धर्म और संघकी प्रशंसा कर रहे हैं।' इसके उपरान्त सीहने निगन्थ नातपुत्तसे बुद्धके पास जानेकी आज्ञा मांगी; जिन्होंने उनको ऐसा करनेसे मना किया और बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्मकी कमताइयां प्रकट करते वे बोले कि 'सीह! तू कर्मोंके फल अर्थात् क्रियावादमें विश्वास रखता है; इसलिये समण गौतमके पास जाकर क्या करेगा? जो कर्मोंके फलमें विश्वास नहीं रखता है, अक्रियावादका प्रतिपादन करता है और इसी धर्मकी शिक्षा वह अपने शिष्योंको देता है।" इसपर सीहकी उत्कण्ठा समण गौतमके पास जानेको कुछ दिनोंके लिये दूर होगई किन्तु पूर्वोक्त प्रकार अन्य लिच्छवियोंके मुखसे बुद्धका बखान सुनकर अन्ततः वह म० बुद्धके निकट पहुंच ही गये, जिन्होंने एक लम्बा चौड़ा उपदेश उनको किया। इस उपदेशको सुनकर बौद्ध कहते हैं कि सीह बौद्ध होगया। बौद्ध होजानेपर सीहने बुद्ध और बौद्धभिक्षुओंको अपने यहां आमंत्रित किया और बाजारसे मांस लाकर उनके लिये भोजन बनवाया। इसपर महावग्गमें लिखा है कि जैनियोंने प्रवाद उठाया और 'एक बड़ी संख्यामें वे (निर्ग्रन्थ लोग) वैशालीमें, सड़कर और चौराहे चौराहे पर यह शोर मचाते दौड़ते फिरे कि आज

सेनापति सीहने एक बैलका वध किया है और उसका आहार समण गौतमके लिये बनाया है। समण गौतम जानबूझकर कि यह बैल मेरे आहार निमित्त मारा गया है, पशुका मांस खाता है; इसलिए वही उस पशुके मारनेके लिए वधक है। हम अपने जीवनके लिये कभी भी जानबूझकर प्राणी वध नहीं करते हैं।" तथापि इसमें यह उल्लेख है कि जब सीह बौद्ध होगया तब म० बुद्धने उनसे कहा:—

"For a long time, Siha, drink has been offered to the Niganthas in your house. You should therefore deem it right (also in the future) to give them food, when they come (to you on their alms piligrimage):—(Mahavagga VI. 31. 11.)

भावार्थ—सीह ! तुम्हारे यहां दीर्घकालसे निगन्थोंको पड़गाहा जाता रहा है इसलिए भविष्यमें भी तुम्हें उनको आहारदान देना चाहिये जब वे उसके निमित्त आवें। इस कथानकमें जिस सीह अथवा सिंहका वर्णन है, उसका नामोल्लेख भी हमें जैन शास्त्रोंमें देखनेको नहीं मिला है। अलबत्ता दि० जैनशास्त्र 'उत्तरपुराण' में राजा चेटकके जो पुत्र बताए हैं उनमें एक 'सिंहभद्र' भी है।[1] संभव है, यही लिच्छवियोंके सेनापति हों; क्योंकि जब इनके पिता गणराज्यमें प्रधानपद पर आसीन थे तो उन्होंने स्वभावतः अपने पुत्रको ही सेनापति पदपर नियुक्त किया होगा किन्तु बौद्धशास्त्रमें इनके पिताके सम्बन्धमें कोई उल्लेख नहीं है, तथापि उक्त जैनशास्त्रमें भी इनके विषयमें सिवाय

१. उत्तरपुराण पृष्ठ ६३४।

नामोल्लेखके और कुछ विवरण नहीं दिया है इस लिए यह स्पष्ट नहीं है कि वह सीह अथवा सिंह कौन थे ? और क्या वस्तुतः वह बौद्धधर्मानुयायी होगये थे ? इसको जाननेके भी साधन प्राप्त नहीं हैं। बौद्धशास्त्र कहते हैं कि वह अन्ततः बौद्ध होगए थे। जो हो, बौद्धग्रंथके उक्त विवरणसे यह प्रकट है कि बौद्धदर्शन उस समय भी अक्रियावादके रूपमें विख्यात् था, उसमें आत्माका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया था और जैन-दर्शन क्रियावाद माना जाता था, वह भी दृष्टव्य है। श्वे० के 'सूत्रकृताङ्ग' (१।१२।२१) में एक श्रमणके लिये यह आज्ञा है कि वह क्रियावादको भी प्रतिपादन कर सक्ता है। तथापि उनके 'आचाराङ्ग सूत्र' में (१।१।१।४) इसकी व्याख्या इसतरह की है; कि एक क्रियावादकी आत्मा, लोक, कर्म और कर्मफलमें विश्वास रखता है।[1] क्रियावादकी यह व्याख्या दिगम्बर सिद्धान्तके भी विरुद्ध नहीं है। इसतरह उस समय जो जैनी क्रियावादके रूपमें प्रख्यात् थे, वह ठीक ही है।

अगाड़ी जो उक्त विवरणमें निगन्थोंको वैशालीमें दौड़ते और बौद्धोंको लाञ्छन लगाते बताया गया है, वह जैनियोंके अहिंसा सिद्धान्तको व्यक्त करता है। जैनदृष्टिसे बाजारमें बिकते हुए इलीवत मांसको ग्रहण करना भी हिंसा है।[2] इसी भावको लेकर वे लोग बुद्धके इस कृत्यकी गणना दुष्कृत्यमें करते वैशालीमें विचर रहे प्रतीत होते हैं। यहां सिद्धान्त भेद स्पष्ट है। अन्तमें

१. जैनसूत्र (S. B. E. XLV.) भूमिका पृष्ठ १६।
२. रत्नकरण्ड (मा० ग्रं०) पृष्ठ ४१-४३।

वे कहते भी हैं कि 'हम अपने जीवन-रक्षाके लिये कभी भी जान बूझकर प्राणीवध नहीं करते हैं।' इन निगन्थोंके इस कथनसे यह स्पष्ट है कि यह निगन्थ-सावक (जैनगृहस्थ) थे। सचमुच बौद्धग्रन्थोंमें कहीं यह शब्द जैनमुनिके लिये व्यवहृत हुआ मिलता है और कहीं जैन श्रावकोंके लिये। इसलिए इस शब्दके यथार्थ भावको ग्रहण करनेमें होशियारीसे काम लेना आवश्यक है। यहां यह विल्कुल ही संभव नहीं है कि वैशालीमें जो निगन्थ चौराहे २ पर दौड़ रहे थे वे जैन मुनि थे; क्योंकि जैनमुनि रागद्वेषसे रहित होते हैं,[1] यह बात स्वयं बौद्ध ग्रंथोंसे प्रमाणित है।[2] इस दशामें वे जैनमुनि नहीं हो सक्ते। तिसपर उनका यह कहना 'हम अपने जीवन-रक्षाके लिए भी प्राणी वध जानबूझकर नहीं करते' इसमें कोई संशय नहीं छोड़ता कि यह निगन्थ गृहस्थ जैनी थे, क्योंकि जैनमुनि अपने भोजनके लिए स्वयं प्रबन्ध नहीं करता।[3] भोजनकी फिकर द्वारापेषण रूपमें गृहस्थलोग ही रखते हैं और वही उसके लिए भी प्राणी वध नहीं करते हैं, अतएव यहांपर 'निगन्थ' शब्दका भाव जैनश्रावकोंसे है।

इसके साथ ही इस विवरणसे यह भी स्पष्ट है कि उससमय भी जैनियोंकी संख्या वैशालीमें अधिक थी। सीहका धर्मपरिवर्तन जैसा कि बौद्ध कहते हैं बुद्धके अंतिम समयमें हुआ था इस कारण बुद्धके वारम्वार वहांपर धर्मप्रचार करनेपर भी जैनियोंकी संख्या कम नहीं हुई थी। तथापि म० बुद्ध सीहसे जो मचिप्ममें

---

१. मूलाचार पृ० ३-११ २. दीघ० भा० १ पृ० २०९-६२. ३. मूलाचार १६८-१६९।

भी निर्ग्रन्थ मुनियोंको आहार देनेकी आज्ञा कर रहे हैं उसमें यह शब्द दृष्टव्य हैं कि सीहके गृहमें दीर्घकालसे जैनमुनियों (निर्ग्रंथों) को पड़गाहा जाता रहा है। इससे भी जैनधर्मका अस्तित्व बौद्ध धर्म अथवा म० बुद्धसे प्राचीन सिद्ध होता है; क्योंकि जब उसका अस्तित्व म० बुद्धसे पहिलेका होगा तब ही सीह बहुत पहिलेसे जैन मुनियोंको आहारदान देसका है।

'महावग्ग' में उपरोक्तके अलावा कोई विशेष उल्लेखनीय जैन विवरण नहीं है; किन्तु उसमें एवं अन्यत्र 'चुल्लवग्ग' आदिमें जो 'तित्थिय' के रूपमें साधुओंका उल्लेख मिलता है, वह हमारी समझसे बहुत कुछ पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरम्पराके मुनियोंके लिये लागू है। इतना तो स्पष्ट ही है कि 'तित्थियगण' म० बुद्धसे प्राचीन सम्प्रदायोंके साधु थे [1] परन्तु उनमें प्राचीन जैनमुनियोंका भी उल्लेख उसी रूपमें किया गया प्रतीत होता है; क्योंकि जैन सम्प्रदाय म० बुद्धसे पहलेकी प्रमाणित होती है। अतएव इन उल्लेखोंको उपस्थित करके हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि वह किस तरह प्राचीन जैनमुनियोंसे सम्बन्ध रखते हैं। 'महावग्ग'में एक स्थानपर निम्न उल्लेख है:—

' At that time the Bhikkhus conferred the Upasampadâ ordination on persons that had neither alms-bowl nor robes. They went out for alms naked and (received alms) with their hands. People wre annoyed, murmured and became angry, saying, 'Like The Titthiyas. 1. 70.3.[2]"

१. हिस्टोरीकल ग्लीनिंग्स पृष्ठ ११-१२. २. Vinaya Texts. S. B. E. Vol. XIII. P. 223.

इन उद्धरणोंमें भिक्षुओंद्वारा उन लोगोंको अपने मतमें दीक्षित करनेका उल्लेख है जिनके पास न भिक्षापात्र था और न वस्त्र थे। उन्होंने नग्नदशामें ही जाकर अपने हाथोंमें भोजन गृहण किया। इसपर, बौद्धाचार्य कहता है कि लोगोंने उनका अपवाद किया और कहा 'यह तो तित्थियोंकी तरह करते हैं।' अब यह स्पष्ट ही है कि जैनमुनि आहार हाथकी अंजुलिमें लेते हैं और वे नग्न रहते हैं।[1] न उनके पास भिक्षापात्र होता है और न वस्त्र होते हैं। इस अवस्थामें यहां जो यह क्रिया तित्थियोंकी बतलाई है, तो यह तित्थिय जैनमुनि होना चाहिये।

इसके साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि यह उस समयका वर्णन है जब म० बुद्धने अपने 'मध्यमार्ग' का प्रचार प्रारम्भ ही किया था और वे अपनी सम्प्रदायके आचार, नियम आदि नियत करते जारहे थे। इस समय भगवान महावीर छद्मस्थ थे और उन्होंने अपने धर्मका प्रचार करना प्रारंभ नहीं किया था, यह बात हम अपनी मूल पुस्तकमें पहले देख चुके हैं।[2] इस कारण यह स्पष्ट है कि ये जैनमुनि, जिनका उल्लेख तित्थियरूपमें किया गया है भगवान महावीरके संघके मुनियोंसे पहलेके जैनमुनि हैं, अर्थात् पार्श्वनाथजीकी शिष्यपरंपराके मुनि हैं। उनका उल्लेख 'तित्थिय' रूपमें करना ही उनको भगवान महावीरसे पहलेका प्रमाणित करता है। अतएव इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथकी शिष्यपरंपराके मुनि भी नग्न रहते थे और हाथोंमें

---

१. अन्यत्र बौद्ध उद्धरणसे यह बात प्रमाणित है (पृष्ठ ६३) जिसपर मूलाचार (पृष्ठ २ और २५४) दृष्टव्य है। २. पृष्ट.

ही आहार ग्रहण करते थे, जैसी कि दिगंबर जैन सम्प्रदायकी मान्यता है। श्वेताम्बरोंके 'उत्तराध्ययन सूत्रमें'[1] जो भगवान पार्श्वनाथकी शिष्यपरंपराके मुनियोंका मेल भगवान महावीरजीके संघसे हुआ बतलाया गया है, वह कुछ उचित नहीं जंचता है। यहां श्वेताम्बराचार्य प्राचीन मुनियोंको वस्त्रधारी बतलाते हैं और उनके व्रत चार ही प्रगट करते हैं। ब्रह्मचर्यका समावेश प्रथम व्रतमें किया हुआ बतलाया गया है। किन्तु यह बात हमारे उपरोक्त बौद्ध उद्धरणके विवेचनसे बाधित है और वह स्वयं श्वेतांबरशास्त्रोंके अन्य कथनोंकी समानतामें उचित नहीं जंचती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि श्वे० के आचाराङ्ग-सूत्रमें[2] सर्वोत्कृष्ट साधु अवस्था नग्न बतलाई गई है और तीर्थङ्कर-पद सर्वोच्च पद है, अतएव सर्वोच्चपद पर आसीन तीर्थंकर भगवान ही जब सर्वोत्कृष्ट नियमका पालन नहीं करेंगे तब फिर और कौन करेगा? फिर जरा यह भी सोचनेकी बात है कि जब विशेष पुण्यमई अवसर अर्थात् कर्मयुगके प्रारंभमें स्वयं ऋषभदेवने जब नग्नताको मोक्ष-प्राप्तिमें आवश्यक माना था और उसी रूपको धारण किया था, जैसे कि श्वेतांबरशास्त्र प्रकट करते हैं,[3] तो फिर उपरांतके पुण्यहीन कालमें इसकी आवश्यक्ता क्यों घट गई? और फिर भगवान महावीरने उसका प्रतिपादन पुनः क्यों किया? यदि मान लिया जाय कि बीचके मुनि वस्त्र धारण करते थे तो

---

१. जैन सूत्र (S. B. E.) भाग २ पृष्ठ १२१. २. जैन०सू० भाग २ पृष्ठ ५५-५६. ३. जैनसूत्र (S. B. E) भाग १ पुष्ठ २८३-२८४.

फिर वह क्यों उस सुगम मार्गको त्यागकर कठिन मार्गको ग्रहण करते? उस दशामें तो म० बुद्धका मध्यमार्ग उनके लिये पर्याप्त था। तिसपर यदि यही सुगमता पहलेसे श्रमणसम्प्रदायमें प्रचलित होती तो म० बुद्ध एक अलग सुगम वस्त्रधारी संप्रदाय किस लिये स्थापित करते? इसके साथ ही यदि यह प्रभेद वास्तवमें था तो फिर जैनधर्मकी वह मान्यता कहां रही कि उसका सनातनरूप एक समान है? तिसपर इस घटनाका उल्लेख श्वे० के उत्तराध्ययनसूत्रके अतिरिक्त किसी प्राचीन ग्रन्थमें नहीं है और और यह उत्तराध्ययनसूत्र अंगबाह्य रचना है।[१] इस दृष्टिमें इसके कथनपर सहसा विश्वास नहीं किया जासक्ता। उसका कथन आचारांगसूत्रके और बौद्धशास्त्रोंके उक्त कथनके प्रतिकूल है। तिसपर उसमें जो क्षुल्लक अधिकारके बाद ऐलक नामक अधिकार दिया है, उससे स्पष्ट है कि प्राचीन क्रम साधु दशाका क्षुल्लक, ऐलक और फिर अचेलक निर्ग्रन्थरूप था। श्वे० आचार्यने यहां यद्यपि क्षुल्लक, ऐलकका उल्लेख किया है परन्तु उनने ऐलकका अर्थ एक 'भेड़' (Ram)से किया है और उसके उदाहरणसे साधुको शिक्षा* दी है। श्वे० शास्त्रोंके इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि श्वे० आचार्योंसे परोक्षरूपमें प्राचीन मार्गका उल्लेख करके अपनेको लांछित होनेसे बचा लिया है और उनकी इन सब बातोंसे मुनियोंका अचेलक वेष स्पष्ट हो जाता है। इस दशामें भगवान पार्श्वनाथजीकी परम्पराके मुनि नग्नावस्थामें रहते थे यह प्रकट हो जाता है। रहा चार व्रतोंका

१. तत्त्वार्थसूत्रम् (S. B. J.) भाग २ पृष्ठ ८७. * उत्तराध्ययनसूत्र (UPSALA Ed) पृ० ८८-९१.

उल्लेख उसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

उपरोक्त उद्धरणोंके अतिरिक्त 'महावग्ग' में निम्नके परोक्ष जैन उल्लेख और मिलते हैं:—

1. "At that time the Paribbâjakas belonging to Titthiya schools assembled on the fourteenth, fifteenth and eighth day of each half month and recited their Dhamma. The people went to them in order to hear the Dhamma. They were filled with favour towards and were filled with faith in the Paribbajakas belonging to Titthiya schools. The Paribbajakas belonging to Titthiya School gained adherents."[1] II, I, I.

2. "How can these Sakyaputtiya Samnas go on their travels alike during winter, summer and the rainy season? They crush the green herbs, they hurt Vegetable life, they destroy the life of many small living things. Shall the ascetics who belong to Titthiya Schools,...retire during the rainy season etc.'[2] III, 1,2.

3. "Let no one, O Bhikkhus, take upon himself the vow of silence, as the Titthiyas do. He who does, commits a dukkata affence."[3] IV, 1,13.

पहले उद्धरणमें तित्थियोंके साधुओंका यह नियम बतलाया है कि वे प्रतिपक्षकी अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णमासीको एकत्रित

१. Vinaya Texts. S. B. E. XIII. p. 239.
२. Ibid. p. 298. ३. Ibid p. 328.

होकर अपने धर्मका पाठ करते हैं जिसको सुनकर साधारण जनता उनकी उपासक बनती है। यह नियम भी जैनमुनियोंसे लागू है क्योंकि जब पर्व दिनोंमें श्रावकोंके लिये ही यह उपदेश है कि वे मुमुक्षुजनोंको धर्मामृतका पान करावें तो मुनियोंके लिए तो इसका अभ्यास करना परमावश्यक होजाता है।[1] तथापि यह उद्धरण भी म० बुद्धके प्रारंभिक जीवनका है जब कि भगवान महावीरका उपदेश प्रारंभ नहीं हुआ था; इसलिए यह नियम भगवान पार्श्वनाथकी शिष्यपरंपरामें भी मान्य था यह स्पष्ट है, जैसी कि जैनियोंकी मान्यता है। उपरोक्त उद्धरणोंमें अवशेषका भी यही हाल है। दूसरेमें शाक्यपुत्तीय (बौद्ध) समणोंके बारेमें कहा गया है कि वे किस तरह वर्षाऋतुमें भी यत्रतत्र विचरण करते हैं और हरित किल्लों, वनस्पतिकाय और बहुतसे सूक्ष्मजीवोंकी हिंसा करते हैं; परंतु तित्थियसंघके साधुलोग वर्षाऋतु एक स्थानपर रहकर मनाते हैं।

इस नियमके बारेमें कुछ कहना ही फिजूल है। चाहे कोई जैनसाधुओंको इसका अभ्यास करते आज देख सक्ता है। अथच इसमें जो हरित, वनस्पतिकाय और सूक्ष्मजीवोंकी हिंसाका कारण दिया है वह जैन वर्णनसे बिल्कुल ठीक बैठ जाता है।[2] जैनशास्त्र भी वर्षाऋतुमें इन्हींकी हिंसासे बचनेके लिए चतुर्मास एक नियत स्थान पर करनेका उपदेश करते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि यहां जिन तित्थिय साधुओंका उल्लेख है वह प्राचीन जैनसाधु ही थे। समण संप्रदायमें वे ही इस नियमका पालन पहिलेसे कर

१. रत्नकरण्ड (मा० चं० ग्रं०) पृष्ठ ७७. २. मूलाचार पृ० ९३-९७ और २९०-२९३.

रहे थे। तीसरे उद्धरणमें बौद्ध भिक्षुओंको मौनव्रत पालन करनेकी मनाई कीगई है और कहा गया है कि इस नियमका पालन तो तित्थिय करते हैं। जैनसाधुओंके लिए मौनव्रत पालन करनेका विधान है[1] इस दशामें यहां भी बौद्धाचार्य 'तित्थिय' शब्दका प्रयोग प्राचीन जैनसाधुओंके लिये कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य उल्लेख 'महावग्ग'[2] में इस प्रकार है:-

"Many Titthiyas saw Mendaka the householder (of Bhaddiya) as he was coming from afar; and when they had seen him, they said to Mendaka the householder: 'whither, O householder, are you going?' 'I am going, sirs, to visit the Blessed One, the Samana Gotama.' 'But why, O householder, do you, being a Kiriyâ-Vâdi, go out to visit the Blessed One, who is an Akiriyâ Vâdi? For O householder, the Samana Gotama, who is an Akiriyâ-Vâdi teaches Dhamma without the doctrine of action." Vol. 34, 12/13.

इसमें कहा गया है कि तित्थियोंने मेंडक नामक गृहस्थको आते देखकर उससे पूछा कि वह कहां जारहा है? उत्तरमें जब उसने कहा कि मैं श्रमण गौतमके पास जा रहा हूं तो उन्होंने कहा कि तू क्रियावादी होकर उनके पास क्यों जा रहा है? वह तो अक्रियावादी है और कर्मवादके बिना ही उपदेश देता है।

---

१. पूर्व० पृ० १३५. २. Vinaya Texts. S. B. E. Vol. XIII. P. 125.

हम ऊपर सीहके सम्बन्धमें देख चुके हैं कि जैनमुनि अथवा जैनी बौद्धग्रंथोंमें क्रियावादीके रूपसे परिचित हैं। अतएव यहांपर जो तित्थिय साधु क्रियावादका पक्ष ले रहे हैं और मेंडक गृहस्थको बुद्धके पास जानेमें अलाभ बतला रहे हैं, वे अवश्य ही जैन साधु हैं। तथापि इनका उल्लेख निगन्थोंके नामसे न किया जाकर जो 'तित्थिय' के नामसे किया जा रहा है, इसका वही कारण है कि ये भगवान महावीरकी शिष्यपरंपरासे पहलेके जैन मुनि थे। इसके साथ ही अन्य समणोंका उल्लेख भी जो कहीं मुश्किलसे एकाध जगह इसी 'तित्थिय' शब्द द्वारा किया गया है, उसका कारण यही है, जैसे कि हम मूल पुस्तकके प्रथम परिच्छेदमें बतला चुके हैं कि वे सब भगवान पार्श्वनाथके दिव्योपदेशके उपरान्त उनके 'तीर्थ' मेंसे उत्पन्न हुये थे। इसी कारण उन समणलोगोंके सिद्धान्त भी जैनधर्मसे सादृश्य रखते हैं अथवा उसके सिद्धान्तोंके विकृतरूप ही हैं। अतएव 'महावग्ग' में जो तित्थिय-साधु' हैं उनको प्राचीन जैनसाधु समझना ठीक है।

'चुल्लवग्ग'[1] में भी 'तित्थिय' साधुका उल्लेख एक स्थलपर निम्नरूपमें आया है:—

"Now at that time the Bhikkhus went on their round for alms, carrying water-jugs made out of gourds or water pots. People murmured, were shocked, and indignant saying, 'As the Titthiyas do.' V, 10, 1."

इसमें बौद्धसाधुओंके बारेमें कहा गया है कि वे आहार

१. Ibid. P. 88.

निमित्त जब जाते थे तब वे जल रखनेके बरतन साथमें ले जाने लगे। लोग कहने लगे कि यह तो तित्थियोंकी तरह करते हैं। यहां भी तित्थिय शब्दका व्यवहार जैनसाधुके लिए हुआ प्रतीत होता है। जैनसाधु जब आहारके लिए जाते हैं तब वे कमण्डलु (प्रासुक जलके लिए बरतन) और पीछी साथमें रखते हैं।[1] इस-तरह जहां भी बौद्धग्रंथोंमें 'तित्थिय' शब्दका व्यवहार किया गया है वहां उसका भाव जैनमुनिसे ही प्रमाणित होता है, जैसा कि हम देखते हैं। और इस शब्दका व्यवहार जो 'निगन्थ' शब्दके साथ किया गया है उसका भाव यही है कि वह भगवान महावीरके संघसे पहलेके जैनमुनियोंके लिये व्यवहृत हुआ है।

अब रहा ' अभिधम्म ' पिटक सो इसके ग्रन्थोंको देखनेका अवसर हमें नही मिला है और हम उनके सम्बन्धमें कुछ कह भी नहीं सक्ते हैं। अनुमानतः उनमें जैन उल्लेखोंका होना बहुत कम संभवित है तो भी 'चुल्लनिद्देस'में कहा गया है कि 'निर्ग्रन्थ श्रावकोंके देवता निर्ग्रन्थ हैं।' (निगन्ठ सावकानाम् निगन्ठो देवता[2]।') इस तरह बौद्धोंके पिटकग्रन्थोंमें हम जैन उल्लेखोंका दिग्दर्शन करते हैं। इनके अतिरिक्त अशोकके उपरांतका रचा हुआ बौद्धसाहित्य भी बहुत है। उसमें भी देखनेसे हमें जैन उल्लेख मिल जाते हैं।

इसी अनुरूप आर्यसुरकी ' जातककथाओं ' में भी हमें जैन उल्लेख मिलते हैं। उनकी 'घटकथा' में, जहां मदिरापानके निषेधका विवेचन है, कहा गया है:[3]—

१. मूलाचार पृ० १३०. २. पृष्ठ १७३-१७४। ३. S, B. B. Vol I P. 145.

" Even the bashful lose shame by drinking it and will have done with the trouble and restraint of dress; unclothed like Nirgranthas, they will walk boldly on the highway crowded with people. "

अर्थात्–इसके पीनेसे लज्जावान भी लज्जाको खो बैठते हैं और वस्त्रोंके कष्टों और बन्धनोंसे विलग होकर निर्ग्रन्थोंकी तरह नग्न होकर वे जनसमूहकर पूर्ण राजमार्गोंपर चलते हैं। यहां जैन-मुनिकी नग्न दशापर कटाक्ष किया गया है। इससे भी जैन मुनियोंका नग्न होना स्पष्ट है।

'बावेरु जातक' में म० बुद्धके अतिरिक्त अन्य छह मतप्रवर्तकोंकी उपमा, जिनमें भगवान महावीरको भी गिना गया है, उस कउवेसे दी गई है जो अपनी प्रतिष्ठा सुन्दर मोरके आनेपर खो बैठा हो।' यहां मोर म० बुद्ध बताये गये हैं और टीकाकारने कउवेकी समानता भगवान् महावीरसे की है। (तदा काको निगन्ठो नातपुत्तो)[1] इस विद्वेषभावका भी कहीं ठिकाना है। सचमुच बौद्धोंको भगवान् महावीरके धर्मप्रचारसे विशेष हानि सहनी पड़ी थी; इसीलिए वे उनका उल्लेख इस तरह कर रहे हैं। इस सांप्रदायिकताके विषबीजने ही अन्तमें भारतको पीड़ाकी भट्टीमें ला रक्खा है, यह स्पष्ट है। इसी तरहका एक अन्य उल्लेख एक अन्य जातकमें है।

वहां लिखा है कि अचेलक (नग्न) नातपुत्तने धोखेसे बुद्धको पकी हुई मछली खानेको दी और बुद्धने उसे खा ली; तब नातपुत्तने उनपर पापोपार्जन करनेका लाञ्छन लगाया और कहा कि "शठ चाहे

---

१. आजीवक्स भाग १ पृ० १६।

मारकर, पकाकर खानेको भले ही दे, पर जो उसे खाता है वह पापी है।" बुद्धने उत्तरमें कहा कि "शठ दानके लिए भले ही पत्नी व पुत्रका वध करे, पर साधु उस मांसके खानेसे पापलिप्त नहीं होता।" (जातक भा० २ पृष्ठ १८२) यहांपर जैन और बौद्ध अहिंसाके प्रभेदको प्रकट करनेमें किस नीचतासे काम लिया है, यह स्पष्ट है। इससे यह भी स्पष्ट है कि बुद्ध मांस खाते थे और उसके खानेमें पाप नहीं समझते थे ! जब कि भगवान् महावीर जानबूझकर मारना और मांस भक्षण करना पापका कारण बतलाते थे। यही बात 'तेलोवाद जातक' से भी प्रमाणित है। वहां कहा गया है कि बौद्धभिक्षु सांथागारमें इकट्ठे हुए कह रहे थे कि 'नातपुत्त मुंह चढ़ाये यह कहते जारहे हैं कि बुद्ध जानबूझकर खास उनके लिए पकाये गए मांसका भक्षण कर रहे हैं।' यह सुनकर बुद्ध बोले कि 'भिक्षुओ, यह बात पहली दफेहीकी नहीं है बल्कि नातपुत्त इससे पहले भी कई दफे खास मेरे लिए पके हुए मांसको मेरे भक्षण करनेपर आक्षेप कर चुके हैं।' (जातक–कावेल भाग २ पृ० १८२) इसपर डॉ० विमलचरण लॉ० कहते हैं कि 'इस वर्णनसे स्पष्ट है कि म० बुद्धने भरसक प्रयत्न भ० महावीरको नीचा दिखानेके लिए किये थे।' (सम क्षत्रिय क्लैन्स ऑफ एन्शियेन्ट इंडिया पृ० १२९) किन्तु दुर्भाग्यसे वह इसमें सफल नहीं हुए यह प्रत्यक्ष प्रगट है।

अन्यत्र बौद्धग्रन्थोंके आधारसे भगवान महावीरको कर्म-सिद्धांतका प्रतिपादक बताया गया है और कहा गया है कि कर्मोंको नाश करनेके लिए मोक्षमार्गपर पहुंचने तक बीचके पथमें पुत्र और पौत्रादिका जन्म इन जीवोंके होजाता है। फिर वह मोक्षमार्गको

पाते हैं। (Rockhill, Life of the Buddha P. 259.) इससे वर्णाश्रम सिद्धांतका बोध होता है कि ब्रह्मचर्याश्रमसे गृहस्थाश्रममें पहुंचकर पुत्रादिका सुख भोगकर जीव वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमोंमें मोक्षमार्गपर लग जाता है इस उल्लेखसे इस सिद्धान्तकी प्राचीनता स्पष्ट है।

'दिव्यावदान्' के भी एक उल्लेखमें भगवान् महावीरकी गणना अन्य पांच मतप्रवर्तकोंके साथ २ की गई है।[1] तथापि अन्यत्र इसी ग्रन्थमें जैन मुनियोंकी नग्नावस्थापर आक्षेप किया गया है[2] यथा:–

'कथम् स बुद्धिमान भवति पुरुषो व्यञ्जनावितः।
लोकस्य पश्यतो योऽयम् ग्रामे चरति नग्नकः॥
यस्यायम् ईदृशो धर्मः पुरसताल्लम्बते दशा।
तस्य वै श्रवणो राजा क्षुरप्रेरगावक्रिन्ततु॥"

और फिर इसी ग्रन्थमें म० बुद्धकी आत्मऋद्धि द्वारा निगन्थ नातपुत्तके परास्त होनेकी शेखी मारी गई है। (दिव्यावदान् पृ० १४३).

उपरान्त 'मिलिन्दपन्ह' में भी कतिपय जैन उल्लेख हमारे देखनेमें आये हैं। यह बौद्धग्रन्थ ईसासे पूर्व दूसरी शताब्दिकी रचना है। प्रारंभमें ही जो उसमें यह कथानक दिया हुआ है कि[3] पांचसौ योंकाओं (यूनानियों) ने आकर राजा मिलिन्द अथवा मेनेन्डर (Menander) से निगन्थ नातपुत्त (भगवान

१. पृष्ट १४३. २. दिव्यावदान पृष्ट १६५. ३. the Questions of Milinda, S. B. E. Vol. XXXV., P. 8.

महावीर) के पास चलने और उनके निकट अपनी शंकाओंको हल करनेके लिये कहा, उससे प्रकट है कि ईसासे पूर्व दूसरी शताब्दिमें जब यूनानी लोग भारतके सीमाप्रान्त पर बस गये थे तब उनमें भी जैनधर्मका प्रवेश होगया था। मिलिन्द-पन्हमें यहां जो स्वयं भगवान महावीरका उल्लेख किया गया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि 'मिलिन्दपन्ह' से प्राचीन बौद्धग्रन्थोंमें भगवानको अजातशत्रुका समकालीन लिखा है। अस्तु; यहां विशेष दृष्टव्य यह है कि केवल यूनानियोंके साधारण मनुष्योंमें ही जैनधर्मकी मान्यता घर नहीं कर गई थी बल्कि विविध कारणोंवश हमें यह विश्वास हुआ है कि स्वयं यूनानी सम्राट् मिलिन्द भी किसी समय अवश्य ही जैनधर्मानुयायी रहे थे। इस बौद्धग्रंथमें उनकी राजधानीमें अन्य समणोंका प्रभाव वर्णित किया है और राजा मिलिन्दको एक मिथ्यात्वीकी भांति बौद्धधर्मपर आक्रमण करते लिखा है तथा बौद्ध शिष्य नागसेनको उसे परास्त करनेके लिये भेजा गया अंकित किया है। इन नागसेन और राजा मिलिन्दमें जो वाद हुआ था, उसमें जैन मान्यताकी झलक नजर पड़ रही है। आत्माका अस्तित्व, छह इंद्रियां, जलमें जीव, निर्वाण आदिका प्रतिपादन जो उन्होंने किया है वह ठीक जैन धर्मके अनुसार है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि राजा मिलिन्द जैन धर्मानुयायी हों। अन्यत्र इस सम्बन्धमें विस्तृत विवेचन देखना चाहिये।[1] सचमुच जब जैन सम्राट् चंद्रगुप्तका विवाह सम्बंध तक यूनानी राजा सेल्यूकसकी पुत्रीसे हुआ था[2] और सिकन्दरआजम अपने साथ जैन मुनियोंको ले

१ 'वीर' २ पृष्ठ ४१३. २. भारतके प्राचीन राजवंश.

गया था[1] तो यह बिल्कुल संभव है कि जैनधर्मका प्रचार यूनान-वासियोंमें विशेष होगया हो। इस व्याख्याकी प्रामाणिकताका विश्वास इस कारण और होता है कि यूनानी विद्वानोंकी शिक्षा जैन धर्मसे बहुत सादृश्य रखती है। उनके तत्ववेत्ता पैर्हो (Pyrrho) ने स्वयं जैनमुनियोंके निकटसे तात्विक शिक्षा ग्रहण की थी[2] इस परिस्थितिमें विशेष अनुसन्धान यदि किया जाय तो यूनानमें जैन-धर्मकी व्यापकताका विशेष पता लगना संभवित है।

उपरोक्तके उपरान्त 'मिलिन्दपन्ह' में जैनियोंकी जल सम्बन्धी मान्यताका उल्लेख है कि जलमें भी जीव होता है। राजा मिलिन्द कहते हैं कि जलमें भी जीव होता है और उसे वे विविध रीतिसे प्रमाणित करते है; किन्तु उत्तरमें नागसेन कहते हैं कि 'नहीं, राजन्, जलमें कोई जीव नहीं है'[3] यह जैनियोंकी मान्यताका स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थमें कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया है।

बौद्धसाहित्यमें अगाड़ी 'धम्मपदत्थकथा' में भी जैन उल्लेख मिलते हैं। एक स्थलपर (भाग २ पृ० ४३४–४४७) उसमें श्रावस्तीके श्रीगुप्त और गरहदिन्नकी कथा लिखी है। श्रीगुप्त बौद्धमती था और गरहदिन्न एक जैन था। गरहदिन्नके निर्ग्रन्थ गुरुओंको बौद्ध बतलाते हैं कि वे सब कुछ जानते थे। उनके ज्ञानसे अगोचर कोई पदार्थ शेष नहीं है। भुत, भविष्य, वर्तमानकी सब बातें और मन, वचन, कायिक सब कर्म तथा जो कुछ होनी और

१. "जैन. सिद्धान्त भास्कर" किरण २–३ पृष्ठ ९. २. मूलपुस्तक. पृ० २६–२७. ३. Milinda, S. B. E. XXXV. P. 85.

अनहोनी है, वह सब वे जानते हैं। अगाड़ी इस बौद्ध कथामें लिखा है कि गरहदिन्नके अनुरोधसे श्रीगुप्तने जैनमुनियोंको आहारनिमित्त निमंत्रित किया और अपने घरमें दो गड्ढे मिष्ठा आदिसे भरवाकर ढकवा दिये और जाहिरा ऐसा उत्सव किया कि मानो यह बड़े ठाठसे जैनमुनियों (Wanderers) को आहार देरहा है। नियत कालमें सब ही निर्ग्रन्थ साधु उसके यहां पहुंचे बतलाये हैं। उस श्रीगुप्तके कहनेके मुताबिक उनको अपना२ बरतन लेकर अलग२ बैठ जाना और फिर मिष्ठासे भरे गड्ढेमें गिर जाना लिखा है। गरहदिन्नको इन समाचारोंसे बड़ा दुःख हुआ और राजासे कहकर उसने श्रीगुप्तको दण्डित कराया। आखिर गरहदिन्नने भी बुद्धको नीचा दिखानेके लिये उनको आमंत्रित किया और अपने घरमें एक गड्ढेमें राख भरवाकर उसे कपड़ेसे ढकवा दिया। बौद्ध कहते हैं कि बुद्धने अपने ज्ञानबलसे गरहदिन्नकी यह कारस्तानी जान ली, परन्तु उनको 'अन्तर्दृष्टि' दिलानेके अर्थ वे भिक्षुओं सहित आहारके लिए उसके यहां चले आये और अपने प्रभावसे भिक्षुओंसहित भरपेट आहार किया और सबको धर्मका उपदेश दिया। कौतूहलसे बहुतमी भीड़ वहां हो गई और बुद्धको इस प्रकार आनंदपूर्वक देखकर वे उन बुद्धको पूज्य दृष्टिसे देखने लगे। बहुतेरे मनुष्योंको बौद्धधर्ममें विश्वास हुआ और वे उसके धर्मको सुनकर बड़े हर्षित हुये। श्रीगुप्त और गरहदिन्न अर्हत होगये।"[1]

बौद्धग्रन्थकी इस कथामें जैनमुनियोंको नीचा दिखानेका कटु भाव ओतप्रोत भरा दृष्टिगोचर होरहा है। इस कथानकमें

१. हिस्टारीकल ग्लीनिन्ग्स पृ० ८९-९१।

कितना तथ्य है यह इसीसे प्रमाणित है। मालूम होता है कि जैन-शास्त्रोंमें बौद्धभिक्षुओंके सम्बन्धमें जो एक ऐसी ही कथा हमें मिलती है, उस हीके उत्तरमें यह कथा बुद्धघोषको गढ़नेकी आवश्यक्ता पड़ी है।[1] जैन कथामें सम्राट् श्रेणिक और उनकी पट्टरानी चेलनीका सम्बन्ध है। राजा चेटककी पुत्री जैन थी और श्रेणिक बौद्ध थे किन्तु अपने पतिको भी जिनेन्द्रभक्त बनानेके लिए राजा चेटककी पुत्री चेलनीने बौद्ध भिक्षुओंको निमंत्रित किया था, मलिन पदार्थ जहां गढ़े हुये थे वहां उन्हें बैठाया, परन्तु उन्हें इस बातका भान नहीं हुआ और फिर उन्हींके जूतोंके टुकड़े करके भोजनमें उन्हें खिला दिये, परन्तु तब भी उन्हें कुछ ज्ञान नहीं हुआ। इस तरह सम्राट् श्रेणिकको अपने गुरुओंकी सर्वज्ञताको प्रमाणित करनेमें असफलता देखनी पड़ी। फिर श्रेणिकने किस तरह इसका बदला जैनमुनिको त्रास देकर लिया तथा उनकी सहनशीलता देखकर उसे जैनधर्ममें प्रीति हुई फिर भी वह बौद्धोंके कहनेसे बौद्ध रहा और अन्ततः भगवान् महावीरके समवशरणमें उसे जैनधर्मका क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त हुआ ये सब बातें जैनशास्त्रोंमें वर्णित हैं। इसी जैन वर्णनके उत्तरमें बौद्ध ग्रन्थमें उक्त प्रकार कथा दी गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं! सचमुच यह कथा जैनियोंकी उक्त कथाके उत्तरमें लिखी गई थी। इसका यही प्रमाण है कि द्वेषसे प्रेरित बौद्ध आचार्य जैनमुनियोंकी चर्याके विरुद्ध भी कथन कर गये हैं। जैनमुनि कभी भी निमंत्रण स्वीकार नहीं करते, वे खड़े२ ही भोजन ग्रहण करते हैं, ये बातें स्वयं बौद्धग्रंथोंसे प्रमाणित हैं परन्तु फिर भी यहांपर कहा गया

१. श्रेणिक चरित्र।

है कि जैनमुनियोंको पहले ही निमंत्रित किया गया था और उन्हें एक स्थानपर बैठनेके लिये आसन दिया गया था। अतएव इसमें संशयको स्थान नहीं रहता कि बौद्धाचार्यने उक्त जैनकथाके उत्तरमें यह मनगढ़न्त कथा रच डाली थी और इस रूपमें इसका महत्व कुछ भी नहीं है। ईसाकी ६ वीं ७वीं शताब्दियोंमें पारस्परिक विद्वेष खूब जोर पकड़े हुए था। उसी समयकी यह रचना है। इस कारण इस तरह भी वह विश्वसनीय नहीं है।

इसी बौद्धग्रन्थमें एक अन्य कथा भी इसी ढंगकी दी हुई है[1] उसमें कहा गया है कि अंग राज्यके भद्दियनगरमें रहनेवाले मेन्डकसेठीके पुत्र धनंजय सेठीकी पुत्री विशाखा थी। मेन्डकसेठीका परिवार म० बुद्धका अनन्य भक्त था। धनंजयसेठी कौशलके राजा पसेनदीके कहनेसे उनकी राजधानी साकेतमें जारहे! विशाखाका विवाह मिगारसेठीके पुत्र पुन्नवद्धनसे होगया था। मिगार सेठी निगन्थोंका भक्त था। विवाहोपरांत विशाखाकी विदा श्वसुरगृहको श्रावस्ती होगई। एक दिवस मिगार सेठीने ५०० दिगम्बर जैन मुनियों (निग्रन्थों)को आमंत्रित किया और जब वे आगए तो उनने अपनी बहूसे उन अर्हतों (साधुओं)को प्रणाम करनेके लिये कहा। अर्हतों (साधुओं)की बाबत सुनकर वह भगी आई और उन्हें देखकर बोली, "ऐसे वेशरम व्यक्ति अरहंत (साधु) नहीं होसक्ते? मेरे श्वसुरने वृथा ही मुझे क्यों बुलाया?" इस तरह अपने श्वसुरपर लांछन लगाकर वह चली गई। नग्न निगन्थोंने इसपर रोष किया और सेठीसे उसे घरसे बाहिर निकाल देनेके लिये कहा क्योंकि

---

१. विसाखावत्थु (P. T. S.Vol. I) भाग २ पृष्ठ ३८४।

वह समण गौतमकी भक्त थी किन्तु सेठीके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था; इसलिए उसने क्षमा याचना करके उन्हें विदा किया। इस घटनाके उपरांत सेठी बहुमूल्य आसनपर बैठा सोनेके कटोरेसे मधुमिश्रित दूध पीरहा था और विशाखा पासमें खड़ी पंखा झल रही थी। उसी समय एक बौद्ध भिक्षु वहां आखड़ा हुआ। किन्तु सेठीने उसकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। यह देखकर विशाखाने उस थेर (भिक्षु)से कहा, "महाराज, अन्य घरको जाइए; मेरे श्वसुरजी अशुद्ध वासी पदार्थ ग्रहण कर रहे हैं।" इसपर वह श्रेष्ठी बहुत नाराज हुआ। उसने उसी समय दूध पीना बंद करके नौकरोंसे कहा कि विशाखाको मेरे घरसे निकाल बाहर करो। इसपर विशाखाने कहा कि मेरे अपराधकी भी तो परीक्षा कर लीजिए। सेठीने यह बात मान ली और उसके रिश्तेदारोंको बुलाकर उनसे कहा कि जब मैं दुग्धपान कर रहा था तब विशाखाने बौद्ध भिक्षुसे कहा कि मैं अशुद्ध वासी पदार्थ ग्रहण कर रहा हूं। विशाखाके रिश्तेदारोंने इस बातकी हकीकत दर्याफ्त की। विशाखाने कहा कि उसने यह बात कही ही नहीं। उसने केवल यही कहा था कि उसके श्वसुर अपने पूर्वभवके पुण्यका फल भोग रहा है। इसप्रकार विशाखाने अपने अपराधको निर्मूल प्रमाणित कर दिया। जब वह निरपराध ठहरी तब उसने अपने श्वसुरगृहसे चला जाना ही मुनासिब समझा, इसपर श्रेष्ठीने उससे क्षमा याचना की और घरमें रहनेके लिये ही अनुरोध किया। वह केवल एक शर्तपर रहनेको मंजूर हुई कि मुझे बौद्ध गुरुओंकी उपासना करनेकी आज्ञा मिल जानी चाहिए। श्रेष्ठीने यह शर्त मंजूर कर ली। दूसरे दिन उसने बुद्धको अपने

यहां निमंत्रित किया। जब नग्न निर्गन्थोंने यह जाना कि बुद्ध मिगारसेट्ठीके घरमें मौजूद हैं तो उन्होंने उनके घरको घेर लिया। विशाखाने अपने श्वसुरसे भी बुद्धका सत्कार करनेके लिए कहा। नग्न निर्ग्रन्थोंने श्रेष्ठिको वहां जानेसे रोका। इसपर विशाखाने स्वयं ही बुद्धको आहार दिया। बुद्ध और उनके शिष्य जब आहार कर चुके तब विशाखाने फिर अपने श्वसुरसे आकर उपदेश सुननेका आग्रह किया। नग्न निर्ग्रन्थोंने इस समय भी सेठीको वहां जानेसे रोका; किन्तु जब वह नहीं माना तो उन्होंने वहां पर्दा डालकर उसके पिछाड़ी सेठीको बिठा दिया। सेठीने वहींसे बुद्धका उपदेश सुना और उसमें उनको विश्वास हो गया। वह अपनी बहूके पास पहुंचे और बोले, "आजसे तू मेरी माता है।" उसी समयसे विशाखा मिगारमाताके नामसे प्रख्यात् हुई। उसने करोड़ों रुपये खर्च करके बुद्धके लिए श्रावस्तीमें एक आराम बनवा दिया।"[1]

इस कथामें भी जैनधर्मके प्रति कटुभाव झलक रहे हैं। यहां भी बौद्धाचार्यका उद्देश्य जैनसाधुओंको हेय प्रकट करनेका है। इस दशामें इसमें कितना तथ्य है, यह सहज अनुभवगम्य है। किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि जैनमुनियोंका भेष नग्न था, जैसे कि अन्य उद्धरणोंसे प्रमाणित है। साथ ही यह भी दृष्टव्य है कि उस समय श्रावस्तीमें जैनियोंकी संख्या अधिक थी। इसमें भी श्रेष्ठीका मधुमिश्रित दूध पीना, मुनियोंद्वारा रोका जाना आदि बातें जैन नियमोंके विरुद्ध हैं।

'धम्मपद' में नग्नता भी साधुपनेका एक चिह्न बतलायी गयी है।[2] इसपर टीका करते हुये टीकाकार एक और कथा लिखते हैं,

---

१ हिस० ग्ली० पृ० ९३-९५। २. धम्मपद (S. B. E. Vol. X) पृष्ठ ३८।

जो उपरोक्तसे बहुत मिलती–जुलती है। 'सुमागधा–अवदान' में कहा गया है कि "अनाथपिण्डककी पुत्रीके गृहमें बहुतसे नग्नसाधु एकत्रित हुये। इसपर उसने अपनी बहू सुमागधाको उनके दर्शन करनेके लिये बुलाया और कहा, 'जा और उन परमपूज्य मुनियोंके दर्शन कर।' सुमागधा सारीपुत्त, मौग्गलान सदृश साधुओंको देखनेकी संभावनासे एकदम भगी आई किन्तु जब उसने इन साधुओंको देखा जिनके बाल कबूतरोंके पंख जैसे मिट्टीसे सने हुये थे, और जो देखनेमें राक्षस जैसे थे, वह म्लानमुख हो गई। इसपर उसकी सासने पूछा कि तू उदास क्यों होगई?' सुमागधाने कहा कि 'यदि यह साधु हैं तो फिर पापी कैसे होंगे?" इसमें जैन साधुओंका उल्लेख है वे जैनसाधु नहीं हैं, प्रत्युत आजीवक प्रतीत होते हैं किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि उस समय नग्नता साधुपनेका एक चिन्ह मानी जाती थी। 'धम्मपद' के संपादक महोदयने इस पर एक नोट दिया है और उसमें कहा है कि 'बॉरनफ साहबके मतानुसार जैन साधु ही नग्न होते थे और बुद्ध नग्नताको आवश्यक नहीं समझते थे' यह ठीक है।

अन्यत्र गरुड़ गोस्वामिन्‌की 'अमावटूर'में भी एक जैन उल्लेख मिलता है। वहां कहा गया है कि लिच्छविराजपुत्र सुणक्खत्तने अन्तत बौद्धसंघसे संबन्ध त्यागकर कोरखत्तियकी शरण ली। उपरान्त उनके निकटसे भी रुष्ट होकर वह जैनमुनि कलारमत्थुकके शिष्य हो गये। जैनमुनिके निकट कुछ दिन रहकर वह फिर म० बुद्धके पास पहुंच गये। फिर भी म० बुद्धसे असंतुष्ट होकर वह पाटिकपुत्र नामक जैनमुनिके निकट आगये। आखिर वह आजी-

वक हो गये ।* इसमें जिन सुणक्खत राजपुत्रका उल्लेख आया है, वे भगवान महावीरके शिष्य थे, यह श्वेताम्बरियोंके 'भगवतीसूत्र'से प्रमाणित है। दिगंबर शास्त्रोंमें हमें कोई ऐसा नाम देखनेको मिला नहीं है। संभव है विशेष रीतिसे अध्ययन करनेपर दिगंबर शास्त्रोंमें इन जैन मुनियोंका विवरण मिल जावे। विद्वानोंको ध्यान देना चाहिये।

अन्ततः धम्मपालकी थेर और थेरीगाथाकी टीका ' परमत्थ-दीपनी 'में जैन उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं। यद्यपि यह टीका अर्वाचीन रचना है, परन्तु गाथामें जो इसमें विविध भिक्षु भिक्षु-णियोंकी संग्रहीत हैं, वे अवश्य ही बौद्ध पिटक ग्रंथों जितनी प्राचीन हैं। इस दशामें इनके उल्लेख भी विशेष महत्वके हैं। इनमें उन कतिपय भिक्षु-भिक्षुणियोंका भी उल्लेख है जो जैनधर्मसे बौद्धधर्ममें दीक्षित हुये बतलाए हैं। बौद्धोंके इन धर्म परिवर्तन उल्लेखोंमें कितना तथ्य है, यह हम कुछ कह नहीं सक्ते; परन्तु जैसे कि हम प्रारंभमें कह चुके हैं, बौद्धोंके उल्लेखोंमें सर्वथा विधर्मियोंको स्वधर्ममें ग्रहण करनेका विवरण मिलता है: उनके स्वयं अपने अनुयायियोंके विधर्मी होनेका कहीं कोई उल्लेख सहसा देखनेमें नहीं आता है। और यह संभव नहीं है कि उनके अनुयायी विधर्मी न हुये हों। ऐसी दशामें उनके कथनको यथातथ्य स्वीकार करना जरा कठिन है। खैर जो हो, यहां इनका दिग्दर्शन करलेना इष्ट है।

पहिले ही 'थेरी गाथा'की टीकामें कतिपय जैन आर्यिकाओंके बौद्ध भिक्षुणी होनेका उल्लेख है। यहां पहिले ही अभयकुमारकी माताका बौद्ध भिक्षुणी होना बतलाया गया है।[1] उसका नाम पद्मावती

*आजीवक्स भाग १ पृष्ठ ३५। १. Psalms of the sisters. P. 30.

और वह उज्जैनीकी वेश्या बतलाई गई है। महाराज श्रेणिकके औरससे अभयकुमारका जन्म हुआ बतलाया गया है। उपरान्त कहा है कि जब निगन्थ-नातपुत्तके उकसानेपर अभयकुमारने म० बुद्धसे प्रश्न किये थे और उनका यथार्थ उत्तर पाया था, तब वे बौद्ध हो गए थे। बौद्ध होनेपर उन्हींके उपदेशसे उनकी माताने बौद्धधर्ममें श्रद्धान ग्रहण किया था। इस विवरणमें कितना तथ्य है, यह हम पहिले ही देख चुके हैं। सचमुच अभयकुमार जैन थे, इसी कारण उनका जन्म वेश्याके गर्भसे हुआ बतलाया गया है। वरन् हम जानते हैं कि वे वेणातट नगरके एक श्रेष्ठीकी कन्या थीं। अगाड़ी मद्दगणराज्यकी राजधानी सागलके कोसियवंशके ब्राह्मणकी पुत्री भद्दाका विवरण है।[1] उसका पालनपोषण बड़े लाड़चावसे हुआ था और उसका विवाह मगधके महातित्थ नामक ग्रामके राजकुमार पिप्पलिसे हुआ था। जब पिप्पलि साधु हो गया तब उसने भी अपनी सम्पदा अपने सम्बंधियोंको देकर साधु अवस्था धारण कर ली। कहा गया है कि यह पांच वर्ष तक श्रावस्तीके जेतवनमें स्थित 'तित्थिय आराम' में रही और अन्तमें 'पजापती गोतमी'ने उनको बौद्धधर्ममें दीक्षित किया। इसमें स्पष्ट रीतिसे नहीं कहा गया है कि वह पांच वर्ष तक किस आम्नायकी साधु सम्प्रदायका पालन करती रही थी; किंतु तित्थिय आराममें वह रही थी, इससे संभव है कि वह प्राचीन जैनसंघमें सम्मिलित रही हो; क्योंकि हम देख चुके हैं कि 'तित्थिय' शब्दका विशेष प्रयोग प्राचीन जैन-साधुओंके लिये बौद्धशास्त्रोंमें किया गया है। अस्तु;

1. Psalms of the Sisters. P. 48.

इसके उपरान्त थेरीगाथामें स्पष्ट जैन उल्लेख भिक्षुणी नंदोत्तराके विवरणमें है।[१] इस कथामें कहा गया है कि "कौरवोंके राज्यमें स्थित कम्मासदम्म ग्रामके एक ब्राह्मणवंशमें इसका जन्म हुआ था। जब निगन्थोंके निकटसे उसने शिक्षा ग्रहण करली थी, तब वह उन्हींके संघमें सम्मिलित हो गई। वह अपनी वादशक्तिके लिये प्रख्यात थी सो सर्वत्र विचर कर वाद करती थी। इसी परिभ्रमणमें उसकी भेंट बौद्धाचार्य महामोग्गलानसे हो गई। उनसे वादमें वह परास्त हुई और इसपर उनके उपदेशसे उसने बौद्धभिक्षुणीके व्रत ग्रहण किये। एक दफे अपनी ध्यानावस्थामें उसने कतिपय गाथायें कहीं थीं; जिनका अनुवाद इस प्रकार है:-

"Fire and the moon, the sun and eke the gods,
I once was wont to worship and adore,
Foregathering on the river banks to go,
Down in the waters for the bathing rite. 87.
Ay, manifold observances I laid
Upon me, for I shaved one half my head,
Nor laid me down to rest save on the earth,
Nor ever broke my fast at close of day. 88."

भावार्थ-"एक समय मैंने अग्नि, चंद्रमा, सूर्य और देवताओंकी उपासना की और नदियोंके स्नान करनेके लिये वहां भगी गई। और अनेक प्रकारके व्रत मैंने धारण किये; मैं आधे सिरको मुड़ाती थी, पृथ्वीपर सोती थी और सूर्य अस्त होनेके पश्चात् भोजन ग्रहण नहीं करती थी।"

इस कथामें जैनसाध्वियोंमें जीवनकी झलक हमें मिलती है। सचमुच जिस वीरसंघकी साध्वी एकाकी सर्वत्र विचर कर

१. पूर्व ५७...

वादका नाद घोषित करतीं थीं, उसकी मन्दाकिनी उस समय पूर्ण-ताको ही प्राप्त होगी! वास्तवमें जैनसाधु और साध्वियोंके जीवन धर्मप्रचारके आदर्श होते हैं। वे वर्षके चार महीनोंको छोड़कर शेषके सर्व दिनोंमें सर्वत्र विहार करके जनताको सच्चे सुखका मार्ग बताते हैं। यही दशा नन्दोत्तराके सम्बन्धमें प्रकट है। किंतु उसने जो अपनी जीवनचर्याका विवरण दिया है, उसपर भी तनिक ध्यान दीजिये। हमारे विचारसे पहिली गाथामें तो उसने अपने ब्राह्मणपनेकी अवस्थाका उल्लेख किया है और दूसरेमें जैन उदासीन श्राविकाकी क्रियायोंका दिग्दर्शन कराया है। उदासीन श्राविका-ओंको सिर मुड़ाना पड़ता है और वे पृथ्वीपर शयन करतीं एवं रात्रिभोजनकी त्यागी होती हैं। यही क्रियायें नन्दोत्तरा भी गिना रही है तथापि जो उसने जैनसाधुओंके निकट रहकर शिक्षा ग्रहण की थी, यह भी जैनशास्त्रोंके अनुकूल है। जैनशास्त्रोंमें ऐसे कई उल्लेख हैं। इस तरह इस उल्लेखसे जैन क्रियाओंका महत्व प्रकट है।

उपरान्त भद्दा (भद्रा) कुन्दलकेसाका कथानक है।[१] यह पहिले जैनी थी। इसके संबंधमें यह कहा गया है कि वह राज-गृहके राज्य-कोठारीकी पुत्री थी। एक दफे वहांके पुरोहित-पुत्र सत्थुकको डकैतीके अपराधमें प्राणदण्ड मिला। बधक लोग उसे शूलीपर चढ़ानेको लिये जा रहे थे। भद्दाकी दृष्टि कहीं उसपर पड़ गई और वह तत्क्षण उसपर आसक्त होगई। उसके पिताको जब यह बात मालूम हुई और पुत्रीकी अन्यथा शांति होना कठिन समझी, तब उसने बधकोंको घूंस देकर उस पुरोहितपुत्रको छुड़ा

१. Psalms of the Sisters P. 63.

लिया। वह सत्थुक डाकू भद्राके संग आनन्द भोग करता अवश्य था परन्तु उसकी नियत सदा उसके गहनों पर रहती थी। एक रोज वह उसे बाहिर ले गया और वहां उसने गहने मांगे। भद्राने उसे प्रेमसे समझाना चाहा, पर जब देखा कि यह तो गहनोंका ही भूखा है; तब उसने प्रेमालिंगनके बहाने उसे एक गहरे गढ़ेमें ढकेल दिया। उसका हृदय संसारकी परिस्थिति देखकर थर्रा गया। वह वहांसे सीधी निगन्थ संघमें पहुंची और वहां आचार्यसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। इसपर बौद्धाचार्य कहते हैं कि निगन्थोंने उससे पूछा "तू किस कक्षाकी दीक्षा ग्रहण करेगी ?" उत्तरमें उसने उनसे सर्वोत्कृष्ट कक्षाकी दीक्षा देनेका अनुरोध किया। इसपर उन्होंने ताड़की कंघी (Palmyra Comb)से उसके बाल नुंचवा (tore out) दिये और वह दीक्षित कर ली गई किन्तु उसकी संतुष्टि इस दशामें नहीं हुई इसलिये वह वहांसे चली गई। उपरान्त श्रावस्तीमें बौद्धाचार्य सारीपुत्तसे वह वादमें हार गई और बौद्ध होगई। बौद्ध भिक्षुणीकी दशामें उसने एक दफे निम्न शब्द कहे थे:-

" Hairless, dirtladen and half-clad*—so fared
I formerly, deeming that harmless things
Had harm; nor was I 'ware of harm
In many things wherein, in sooth, harm lay. 107."

इनमें उसे यह कहती प्रगट किया गया है कि "पहिले मैं केश रहित, मैलसे लदी और एक कपड़ा पहिने विचरा करती थी, मैं यह विचारती थी कि उन वस्तुओंमें भी नुकसान है जो सचमुच नुकसानदेह नहीं हैं और उन वस्तुओंसे मैं अजानकार थी जिनमें वस्तुतः नुकसान है।"

* Literally, having one garment or cloak.

इसप्रकार यह कथा है। इसमें वर्णित जैन आर्यिकाओंकी क्रियाओंपर हमें ध्यान देना चाहिये। नन्दोत्तरा और इस भद्राकी जीवनक्रियाओंमें अन्तर है। इसका कारण यही है कि नन्दोत्तरा तो उदासीन श्राविका थी और भद्रा आर्यिका थी। वह जैनाचार्यसे परमोत्कृष्ट दीक्षा देनेका अनुरोध भी करती है। इससे प्रकट है कि जैन संघमें स्त्रियोंके साधुजीवनकी भी कक्षाऐं नियत थीं। यह जैनशास्त्रोंके सर्वथा अनुकूल है। जैनसंघमें चार कक्षाएं स्थापित थीं, जैसे कि आज भी हैं; अर्थात् (१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक और (४) श्राविका। यह श्रावक और श्राविकायें उदासीन गृहत्यागी ही होते थे। अस्तु; अगाड़ी जो बाल नोंचनेकी बाबत कहा गया है, सो श्वेतांबर संप्रदायकी बाबत तो डॉ० जैकोबी प्रकट करते हैं कि शायद उनके यहां यह नियम नहीं है[१] पर दिगम्बर संप्रदायमें मुनि और आर्यिकाके मूलगुणोंमें अन्तर नहीं है। उनके उत्तरगुणोंमें परस्पर अन्तर है। प्रायश्चित्तविधानके निर्णयमें 'छेदशास्त्र'का निम्नश्लोक यही प्रकट करता है:—

'यथा श्रमणानां भणितं श्रमणीनां तथा च भवति मलहरणं।
वर्जयित्वा त्रिकालयोगं दिनप्रतिमां छेदमूलं च ॥'

'अस्यार्थः—यत्प्रायश्चित्तं ऋषीणां यथा तेन विधिना आर्यिकाणां दातव्यं परं किन्तु त्रिकालयोगं सूर्यप्रतिमा न भवति। उत्तर गुणानां समाचारो न भवति। केन कारणेन मूलच्छेदे जाते सति उपस्थापवायां न याति।'[२]

१. जैनसूत्र (S. B. E.) भाग २ पृष्ठ ११९ फुटनोट.
२. प्रायश्चित्तसंग्रह (मा० ग्रं०) पृष्ठ ९८.

इस अपेक्षा दिगम्बर दृष्टिसे आर्यिकाको केशलोंच करनेका अधिकार प्रमाणित होता है। श्रीपद्मपुराणजी (पृ० ८८३) में सीताजीको दीक्षा लेते समय केशलोंच करते लिखा है अतएव बौद्धशास्त्रका यह उल्लेख भी यथार्थता लिए हुए है।

इसके अतिरिक्त 'थेरीगाथा'में अन्य कोई उल्लेख स्पष्टतः जैन-धर्मके संबधमें नहीं है; किन्तु 'इसिदासी' (ऋषिदासी) शीर्षक जो कथा दी हुई है, वह अवश्य ही जैनढंगकी मालूम होती है। वह इस प्रकार है, "ऋषिदासीने पूर्वभवमें व्यभिचारमय जीवन व्यतीत किया था। इसलिये इस पापके कारण उसे तीन भव पशु योनिमें, एक नपुंसक रूपमें और दो स्त्रीलिंगके धारण करने पड़े। उपरान्त वह उज्जैनीके एक प्रख्यात, धनी और धर्मात्मा वणिकके यहां पुत्री हुई थी। यहां इसका नाम ऋषिदासी रक्खा गया था। जब वह पुत्री हुई तब उसके पिताने उसका विवाह एक सुयोग्य वणिक-पुत्रके साथ कर दिया। एक मास तक वह अपने पतिके साथ अच्छी तरह रही पश्चात् उसके पूर्व कर्मके फल स्वरूप उसका पति उससे विरक्त होगया और उसे घरमेंसे निकाल बाहर किया। वह अपने पितृगृह पहुंची। वहां उसके पिताने उसका विवाह फिर कर दिया; किन्तु फिर भी उसकी उसके पतिसे न पटी। इसप्रकार बारबार विवाह कर देने और निकाली जानेसे वह घबड़ा गई और उसने जिनदत्ता नामक थेरी (साध्वी)से दीक्षा ग्रहण कर ली। इस दीक्षित अवस्थामें एक दिवस वह पटनामें आहार ग्रहण करके, गंगा तटपर आकर बैठ गई और वहां अपनी साथिन भिक्षुणीसे अपनी पूर्व कथा कहने लगी। किसतरह पूर्वभवमें उसने पाप किये,

कैसे उनका फल भुगता, फिर इस भवमें साकेतके वणिकपुत्रसे उसका विवाह हुआ, पति रुष्ट हुवा, घरसे निकाली गई, पितृगृह आई, पुनः पुनः विवाह हुये, अन्ततः जिनदत्ताके निकट उसने दीक्षा ग्रहण की यह सब उसने कहा। इस विवरणमें एक स्थलपर निम्न शब्द आये हैं:—

" But of my father I,
Weeping and holding out clasped hands, be sought :
'Nay' but the evil Karma I have done,
That would I expiate and wear away. 431 "

भावार्थ–उसने अपने पितासे रोकर और हाथ जोड़कर कहा कि 'नहीं, पिताजी, मैंने जो अशुभकर्म उपार्जन किया है उसकी निर्जरा अब मुझे (निज्जरेस्सामि) कर लेने दीजिये।' यही कह कर वह साध्वी होगई थी।[1]

इस कथामें कर्मके प्रभावको व्यक्त करनेका प्रयास है जो जैनधर्ममें मुख्य स्थान रखता है। जैनकथाओंमें पूर्वकृत कर्मके फल भुगतनेका चित्रचित्रण विशेष मिलता है तथापि जो यहां कर्मोंकी निर्जरा करनेकी घोषणा है, वह स्पष्ट कर देती है कि यह कथा जैनसे सम्बन्ध रखती है। ऋषिदासी, जिनदत्ता ये नाम भी जैनियोंके समान हैं इस कारण यही प्रतीत होता है कि यह कथा जैनियोंकी है। निर्जरा तत्व बौद्धधर्ममें स्वीकृत नहीं है, प्रत्युत म० बुद्धने जैनियोंके इस तत्वकी तीव्र समालोचना 'देवदत्त सुत्त' में की है।[2] यही मत 'थेरीगाथा' की सम्पादिका श्रीमती मिसिस हिसडेविडसका है। आप इस कथाके विषयमें लिखती हैं कि:—

१. Psalms of the Sisters P. 156. २. मज्झिमनिकाय भाग २ पृष्ठ २१४।

" But in the case of the last two Psalms (Isidâsi and Sumedhâ XVIII.) There are features pointing to different and possibly later conditions attending their compilation. Isidâsi's poem, for one who comes to it steeped in the phraseology of the preceding Psalms, strikes a strangely varied, almost a discordent note. The scene is Patná, a city rising on the decline of the Kosalan and Magadhese capitals, but alone that of Kási (Benares). The wretched girl's plea to join the order of Bhikkhunis might be that of a Jain; so Jainistic is her aspiration. The name of her sponsor Bhikkhuni—Jindattâ—which does not occur elsewhere in the Canon is possibly significant."[1]

भावार्थ–'किन्तु अंतिम दो गाथाओं (इसिदासी और सुमेधा)के सम्बन्धमें ऐसे लक्षण हैं जो उसकी अन्योंसे विलक्षणता और उपरांतकी रचनाके द्योतक हैं। इसिदासीकी गाथा यद्यपि पूर्वगाथाओंकी भांति रची गई हैं, किंतु उसमें विलक्षण भेद स्पष्ट है। घटना पटनामें घटित हुए बतलाई गई है। यह नगर कौशल और मगधकी राजधानियोंके नष्ट होनेके बाद आविर्भूत हुआ था। संभवतः इसिदासीका अनुरोध जैनसंघकी भिक्षुणियोंके व्रत धारण करनेका होगा, उसका उद्देश्य बिल्कुल जैनियों जैसा है। उसकी दीक्षादात्री जिनदत्ताका नाम भी बौद्धशास्त्रोंमें अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलता है। यह भी इस अनुमानका एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।' इस दशामें इस कथाको जैनकथा कहना कुछ अनुचित नहीं है।

१. Psalms of the Sisters. Introduction. XXII.

किन्तु इसमें जो ऋषिदासीके पुनर्विवाहका उल्लेख है वह कुछ अटपटा ही है। जैन कथाओंमें हमें कोई ऐसा उल्लेख देखनेको नहीं मिलता है। संभव है बौद्ध लेखकने इसको विकृत रूप देनेके लिये अपने आप यह कथन गढ़ लिया हो और इस कथाको अपना लिया हो। इसके लिये हमें देखना चाहिये कि जैनशास्त्रोंमें भी कोई ऐसी कथा अथवा इससे सादृश्य रखनेवाली कथा है? हमारे देखनेमें 'उत्तरपुराण' में एक कथा आई है, जिससे उक्त कथाका सम्बन्ध हो तो कोई आश्चर्य नहीं![1] वहां लिखा है कि सम्राट् श्रेणिकके प्रश्नके उत्तरमें प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम कहते हैं कि वीरभगवानके तीर्थमें अंतिम केवलज्ञानी जम्बूकुमार होंगे। उस दिनसे, जिस दिन यह प्रश्न पूछा गया था, सातवें दिन इन जंबुकुमारका जन्म राजगृहनगरमें होना बतलाया गया है। इनके पिताका नाम 'अर्हदास' और माताका नाम 'जिनदासी' लिखा गया है। उपरान्त कहा है कि जब भगवान महावीरके निर्वाणोपरांत पुनः गौतमगणधर सुधर्माचार्य सहित यहां आवेंगे तब राजा कुणिक अजातशत्रु पूजा वंदना करने आवेगा और जंबूकुमार भी वैराग्यको धारण करेंगे किन्तु माता-पिता दीक्षा धारण नहीं करने देंगे। इस घटनाके बाद जम्बूकुमारका विवाह पद्मश्री, कनकमाला और कनकश्रीके साथ हो जावेगा; परन्तु वह संसारभोगसे विरक्त रहेगा। ये सब बातें घटित हुईं और इसी समय एक विद्युच्चोर जम्बूकुमारके घर आ निकला था। इन दोनोंमें परस्पर संसारकी असारता पर वाद हुआ था; जिसके अन्तमें जम्बूकुमार और उनके माता-

१. उत्तरपुराण पृष्ठ ७०२.

पिता तथा स्त्रियें और विद्युच्चोर आदि सब दीक्षा धारण कर गये थे। भगवान महावीरके चौवीस वर्ष बाद जम्बूकुमार केवलज्ञानी हुए थे। केवलज्ञानी होकर उन्होंने अपने भव नामक शिष्यके साथ चालीस वर्षतक विहार और धर्मप्रचार किया था। जैनियोंके अंतिम केवलीकी यह कथा है और विशेष प्रख्यात है। संभव है इसीको बौद्धाचार्यने किसी कारणवश अपना लिया हो। यहां जम्बूकुमारकी माता जिनदासी बताई गई हैं और बौद्धकथामें ऋषिदासीका उल्लेख है तथापि जिनदत्ता भिक्षुणीका। भगवान महावीरके निर्वाणोपरांत एक बीस-तीस वर्षके अन्तरालमें पटनाका आविर्भूत हो जाना संभवित है। इन्हीं जिनदासीका नाम बौद्धाचार्यने 'जिनदत्ता' रख दिया हो और इनकी किसी शिष्याका 'ऋषिदासी' रख लिया हो तो कोई अनोखी बात नहीं है। अथवा यह हो सक्ता है कि जैनियोंके अंतिमकेवलीकी माताको हेय प्रकट करनेके लिये उन्होंने उनके नामको ऋषिदासीमें पलटकर उनके जीवनको नीची दृष्टिसे प्रगट किया हो। जो हो, इसमें संशय नहीं कि बौद्धाचार्यने इस कथाको किसी रूपमें अवश्य ही जैनधर्मसे ग्रहण किया था। संभव है कि जैनकथाग्रंथोंमें और कोई कथा उपरोक्तसे मिलती-जुलती मिल जावे यह ढूंढनेसे मालूम होसक्ता है। इस प्रकार थेरीगाथाके जैन उल्लेख पूर्ण होते हैं।

अब पाठकगण आइए, एक दृष्टि 'थेरगाथा' पर भी डाललें। इसमें भी सबसे पहिले अभयकुमारके संबन्धमें जैन उल्लेख मिलता है।[१] इसके विषयमें हम पहिले ही देख चुके हैं, उपरान्त एक कथा 'अज्जुन' शीर्षक की है।[२] इसमें कहा गया है कि वह सावत्थी

१. Psalms of the Brethren. P. 30. २. पूर्व पृष्ठ ८३.

(श्रावस्ती) के एक कुलपुत्र (Councillor's) के वंशमें जन्मा था। जब वह युवा था तब ही उसने एक जैनमुनिके निकट दीक्षा ग्रहण करली थी। किन्तु अन्तमें वह किसी कारणसे बौद्ध होगया बतलाया गया है। इसके विषयमें अधिक कुछ न कहकर यह बतलाना ही पर्याप्त है कि जैनसाहित्यमें ऐसा कथानक हमारे देखनेमें नहीं आया है।

इसके अतिरिक्त 'गंगातीरिय' भिक्षुके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसने गृहत्याग कर एक वर्षतक मौनव्रत धारण किया था। यह हमको मालूम है कि म० बुद्धने मौनव्रत पालनेके लिए मनाई की थी इसलिए संभव है कि यह साधु जैनमुनि हों। गंगा किनारे रहनेके कारण यह 'गंगातीरिय' कहलाते थे।[1]

उपरान्त इसमें एक कथानक 'अंगुलिमाल' शीर्षकका है।[2] यद्यपि इसका संबंध जैन संप्रदायसे कुछ भी नहीं बताया गया है; परन्तु इसके विवरणक्रमसे यही प्रतीत होता है कि यह कथा भी जैनसाहित्यसे अपनाली गई है; जैसा कि हम ऋषिदासीकी कथाके सम्बन्धमें देख चुके हैं। यह कथा इसप्रकार बतलाई गई है कि 'अंगुलिमाल कौशलके राजाके पुरोहित ब्राह्मण भग्गवका पुत्र था। पुरोहितने उसके जन्म लक्षणोंसे जान लिया था कि वह पक्का चोर होगा। यह समाचार उन्होंने राजासे भी कहे; जिससे उनके मनको भी पीड़ा सहन करनी पड़ी थी। उसके द्वारा राजाको पीड़ा सहन करनी पड़ी, इसलिये उसकी ख्याति 'हिंसक' रूपमें होगई। वह बलवान भी विशेष था। सात हाथियोंका बल उसे प्राप्त था। उचित वय प्राप्त करनेपर उसे तक्षशिलामें विद्याध्ययन करनेके लिये

१. पूर्व पृष्ठ ११२. २. Psalms of the Brethren. P. 318.

भेज दिया गया। तक्षशिलामें विद्याध्ययन करते वह अपनी गुरु-आनीकी विशेष सेवा सुश्रूषा किया करता था इस कारण गुरुके गृहसे उसे अधिकतर निमंत्रण मिलते रहते थे। इस बातको और शिष्य सहन न कर सके। उन्होंने गुरु और इसके बीच कुसम्प लानेके प्रयत्न किये और वे सफल भी हुए। गुरु 'हिंसक' से रुष्ट होगये और उससे कहा कि मुझे गुरुदक्षिणा रूपमें एक हजार अंगुलियां मनुष्योंके सीधे हाथकी लाकर दो। वह समझते थे कि उससे यह कार्य नहीं होगा और इसपर उसे दण्ड दिया जासकेगा किंतु 'हिंसक' गुरुकी आज्ञाको शिरोधार्य कर कौशलके जालिनी वनमें पहुंच गया और वहांसे जो यात्री निकलते, वह उनकी उंगलियां काट लेता और उन्हें सुखाकर उनकी माला बनाकर गलेमें पहिन लेता इसही कारण वह 'अंगुलिमाल' नामसे प्रकट होगया। जब उसकी उद्धतता ज्यादा बढ़ गई तो राजाने उसको पकड़नेके लिये सेना भेजनेकी व्यवस्था की। यह समाचार जानकर उसकी माताका हृदय थर्रा गया। वह ममताकी प्रेरी अपने पुत्रको समझानेके लिये निकल पड़ी। इस समय 'अंगुलिमाल' ने अपनी माताको आते देखा; परन्तु उसे तो अंगुलियोंसे मतलब था। उसने माताका भी ध्यान नहीं किया! अगाड़ी बौद्धाचार्य कहते हैं कि म० बुद्धने इस दशाको जाना तो वे घटनास्थलपर पहुंच गये। उनको आता देखकर 'अंगुलिमाल' ने अपनी माताको छोड़ दिया और उनके पीछे हो लिया परन्तु भागकर भी वह उनको नहीं पकड़ सका। अन्ततः बुद्धके प्रभावसे उसने वह हिंसाकर्म छोड़ दिया और वह बौद्ध होगया। बौद्ध भिक्षु होनेपर भी लोग उसको विशेष

रीतिसे सताते थे परंतु वह सब यातनायें चुपचाप सह लेता। इसलिये वह अन्तमें 'अहिंसक' नामसे प्रख्यात् हुआ। इस दशामें उसने बहुतसी गाथायें कही थीं। उनमेंसे एकका अनुवाद इसप्रकार है:-

" For such a foe would verily not work me harm,
Nor any other cicature wheresocver found.
He would himself attain the peace in ffable,
And thus attaining cherish all both bad and good."

भावार्थ-'ऐसे शत्रु मुझे कुछ भी हानि नहीं पहुंचाते हैं और न कोई अन्य जीवित प्राणी ऐसा दिखता है जो मुझे हानि पहुंचा सके। वह अपने आप अपूर्व शांतिको प्राप्त करेगा और उसको पाकर वह सबको-दोनों त्रस और स्थावरको अपना लेगा।'

इस गाथामें जो भाव और 'तस-थावरे' शब्द व्यवहृत किये गये हैं, वह हमारे उक्त अनुमानको और भी प्रबल कर देते हैं। त्रस-स्थावर (तस-थावरे) जैन सिद्धान्तके खास शब्द हैं और वे वहां त्रस-चलने फिरनेवाले और स्थावर-एक स्थानपर स्थिर रहनेवाले प्राणियोंके लिये व्यवहारमें लाये जाते हैं। उक्त अनुवादमें जो उनका भाव बुरे-भले प्राणियोंसे लिया गया है, वह ठीक नहीं है किन्तु अनुवादक श्रीमती ह्रिसडेविड्स महाशया करतीं भी क्या? क्योंकि वह फुटनोट द्वारा यथास्थान प्रगट करतीं हैं कि बौद्धधर्ममें इस शब्दका यथार्थ भाव नहीं मिलता है। इसका अर्थ अस्पष्ट है। Admittedly a term of doubtful meaning). इस परिस्थितिमें इस कथाका सम्बन्ध मूलमें जैनधर्मसे होना बहुत कुछ स्पष्ट है। 'अङ्गुलिमाल' जिन शब्दोंका प्रयोग करता है वह अपने यथार्थ भावमें

जैनियोंके हैं। तथापि गाथामें आत्माके असली स्वभावमें दृढ़ श्रद्धान भी झलक रहा है। जैनियोंकी निश्चयनयसे 'आत्माको कोई भी किसी तरहसे हानि नहीं पहुंचा सक्ता' यह प्रकट है और अङ्गुलिमाल यह श्रद्धान उक्त गाथामें स्पष्ट प्रकट कर रहा है, जो बौद्धमान्यताके प्रायः विरुद्ध ही है क्योंकि बौद्धधर्म अनात्मवादका प्रतिपादन करता है। इस अपेक्षा भी अङ्गुलिमालका जैन होनेका विश्वास होना और इस कथाका संबंध जैन साहित्यसे होना प्रमाणित होता है। किन्तु यह भी देखना चाहिये कि जैनसाहित्यमें भी कोई ऐसी या इससे मिलती जुलती कथा मिलती है क्या? हतभाग्यसे अभीतक हमारे देखनेमें ऐसी कोई कथा जैनसाहित्यमें नहीं आई है और इस कारण इसके विषयमें कुछ अधिक नहीं कहा जासक्ता है।

बौद्धसाहित्यके उपरोल्लिखित स्थानोंपर जैनसम्बन्धोंका विवरण हम देख लेते हैं और वास्तवमें उन्हें विशेष महत्वका पाते हैं। भगवान् महावीरके बिल्कुल निकटवर्ती कालकी वह रचना है इस अवस्थामें इससे ऐसा महत्वपूर्ण विवरण पाना उचित भी था। सचमुच बौद्धशास्त्रोंमें जो उक्त प्रकारके जैन सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं उनके लिये हमें उनकी उपयोगिता स्वीकार करनी पड़ती है। यद्यपि उनमें प्रायः जैनधर्मके सम्बन्धमें अयथार्थ और द्वेषपूर्ण विवेचनका अभाव नहीं किन्तु उनमें ऐसा होना प्रकृत है, क्योंकि आखिर वे जैनियोंके विपक्षी एक विधर्मी दलकी रचनायें हैं। उतनेपर भी उनकी उपेक्षा करके यदि हम राजहंस नीतिका अवलम्बन लें तो हमें उनमें बहुत कुछ महत्त्वशाली तथ्यपूर्ण विवरण मिलता है, जैसे कि हम पूर्व पृष्ठोंमें देख चुके हैं। हम अपने

इस विवेचनसे जिस निर्णयको पहुंचे हैं उसके बलसे यह प्रकट करते हमें हर्षका अनुभव होरहा है कि (१) जैनियोंकी मान्यताओंका समर्थन विधर्मी शास्त्र भी करते हैं और भगवान् महावीरको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी प्रकट करते हैं, सो उनकी इस मान्यताकी स्वीकारता बौद्धग्रन्थ स्वयं जो अपनी प्राचीन मान्यताके अनुसार भगवान् महावीरके समकालीन म० बुद्धसे करते हैं, जैसे कि हम देख चुके हैं। विधर्मी मतप्रवर्तक द्वारा इस तरह जैन मान्यताकी पुष्टि होना कुछ कम गौरवकी बात नहीं है, (२) उक्त विवेचनसे यह भी स्पष्ट है कि जैनधर्मका अस्तित्व भगवान महावीरसे बहुत पहिलेसे चला आरहा था और उसके सिद्धांत भी भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्मके समान ही थे; (३) श्वेतांबरियोंकी जो यह मान्यता है कि भगवान पार्श्वनाथकी शिष्यपरम्पराके मुनि वस्त्र धारण करते थे और उनके चार व्रत थे, वह बौद्ध उद्धरणोंके उक्त विवेचनसे बाधित है; (४) और अन्ततः आजपर्यंत जैन सिद्धांतोंका अविकृतरूप और दिगम्बर जैनशास्त्रोंकी प्रामाणिकता भी प्रकट है। आगामी वही सिद्धांत हमें मिलते हैं जो सवा दो हजार वर्ष पहिले प्रचलित बताये गये हैं और वह दि० जैनशास्त्रोंके सर्वथा अनुकूल हैं।

इस रूपमें जैन साहित्य और जैनधर्मके संबंधमें एक विपक्षी मतके ग्रन्थोंसे महत्व प्रगट किया हुआ मिलता है। हमको विश्वास है कि आगामी पठन–पाठनमें प्राच्यविद्यामहार्णव यथार्थताका प्रतिपादन कर इसे उपयोगी पायेंगे।

